आदर्श-चरितावली

लेखक व प्रकाशक

पं० रामधन शर्मा शास्त्री, एम० ए०,

एम० ओ० एल०, सा० आचार्य,

प्रोफेसर—कमर्शल कालेज, दिल्ली।

* प्राक्कथन *

चरित्र-निर्माण शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है। चरित्र-निर्माण से हमारा अभिप्राय किसी व्यक्ति में उन सद्‌गुणों के संवर्द्धन और विकास से है जिनके द्वारा वह एक उत्तम और सुयोग्य नागरिक बनकर अपनी व्यक्तिगत उन्नति के साथ साथ अपने समाज [और] देश के अभ्युत्थान तथा उत्कर्ष में भी पूर्णरूप से सहयोग [कर]ने में समर्थ हो सके। शारीरिक स्वास्थ्य, बुद्धि का परिष्कार, [वी]रता, धीरता, साहस, परोपकार, दया, दाक्षिण्य, कर्मण्यता आदि [स]भी गुणों का चरित्र से सम्बन्ध है; अतः मानवजीवन की [सा]र्थकता इसी मे है कि इन सद्‌गुणों की प्राप्ति के निमित्त निरन्तर [प्रय]त्न करते हुए मनुष्य अपने चरित्र-बल को अधिक दृढ़ करे। [मन]ुष्य स्वभावतः ही एक अनुकरणशील व्यक्ति है। वह दूसरों [को] जैसा करते हुए देखता है स्वयं भी वैसा ही करने लगता है। सुकुमार तथा कोमलमति वालको मे तो अनुकरण की यह प्रवृत्ति विशेषरूप से पाई जाती है। अत उनके सामने ऐसे आदर्श उपस्थित करना परम आवश्यक है जिन से उपर्युक्त सद्‌गुणों की प्राप्ति मे उन्हें सहायता मिल सके। कोरे उपदेशात्मक वाक्यों की अपेक्षा आदर्श उदाहरण ही इस ध्येय की प्राप्ति मे अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीतामे कहा है—

> "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
>
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" (गीता ३—२१)

अर्थात् श्रेष्ठ महापुरुष जैसा आचरण करते हैं अन्य साधारण जन भी वैसा ही करने लगते हैं। उन महापुरुषों के द्वारा स्थापित आदर्श ही उनका पथप्रदर्शक होता है। इसी उद्देश्य को ध्यान मे लक्षित कर प्रस्तुत पुस्तक का निर्माण किया गया है। इसमें संसार-प्रसिद्ध कुछ आदर्श महापुरुषों की जीवनियां दी गई हैं। जीवनोपयोगी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और वैज्ञानिक सभी बातों से सम्बन्ध रखने वाले आदर्श महापुरुषों का इसमें उल्लेख है। इन जीवनियों की एक विशेषता यह है कि बीच २ में स्थान २ पर कुछ उपदेशात्मक वाक्यों का समावेश कर दिया गया है जिनसे पढ़ने वालों पर तुरन्त उसका प्रभाव पड़ सके।

हमारा अपना विचार है कि संस्कृत के बिना हिन्दी उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा कदापि नहीं बन सकती। इसी कारण पुस्तक की भाषा यथासम्भव विशुद्ध हिन्दी अर्थात् संस्कृत-प्रचुर रक्खी गई है पर साथ ही संस्कृत के उन्हीं शब्दों के प्रयोग करने का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है जिनका हिन्दी मे बहुलता से प्रचार है अथवा जिनसे उसके कोप की समृद्धि हो सके। पाठकों की सुविधा के लिये कुछ कठिन शब्दों के अर्थ पुस्तक के अन्त में दे दिये गये हैं। आशा है पाठकों विशेषकर विद्यार्थियों के चरित्र-सङ्गठन मे यह "आदर्श चरितावली" एक आदर्श का काम करेगी।

४१८, कटड़ा नील,
दिल्ली, सितम्बर १९३७।

विनीत—लेखक

विषय-सूची

१—योगिराज श्रीकृष्ण

इहलोक तथा परलोक में मनुष्य की सारी प्रवृत्ति सुख के लिये है। धर्म, अर्थ और काम का इसके अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं। पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इस सुख-प्राप्ति का एक मात्र उपाय सत्य का अनुशीलन और तत्व-ज्ञान की प्राप्ति है और तत्वज्ञान की प्राप्ति का मूलहेतु धर्मसाधन है। धर्मानुकूल आचरण करने से मनुष्य समस्त सांसारिक यंत्रणाओं से परित्राण पाकर इस जीवन में ही देवत्व लाभ कर सकता है किन्तु इसके अभाव में वह पशुत्व में परिणत हो जाता है। अतः धर्मसाधन ही मानव जीवन का परम पवित्र और वास्तविक ध्येय है। परन्तु धर्म क्या है इस सम्बन्ध में लोगों में अनेक भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। वास्तव में आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन में सामञ्जस्य उपस्थित करना और इसके लिये अपेक्षित व आवश्यक नीति-नियमों तथा सिद्धान्तों का पालन एवं तदनुकूल आचरण करना ही धर्म कहाता है। केवल भौतिक अथवा केवल आध्यात्मिक उन्नति से धर्म के एक ही अङ्ग की पूर्ति होती है। अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों ही की प्राप्ति का अनुगमन पूर्ण धर्म है। मनुष्य अपनी मान-

सिक और ऐन्द्रिय दुर्बलताओं के कारण सांसारिक विषय वासनाओं में लिप्त होकर जब आध्यात्मिक नियमों और सिद्धान्तों की अवहेलना करने लगता है तभी समाज में अव्यवस्था और उच्छृङ्खलता उत्पन्न हो जाती है और विलासिता दुराचार एवं अमानुषी अत्याचार का प्रसार होने लगता है। इसी सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने के लिये महापुरुषों का आविर्भाव होता है। वे अपने सदुपदेश और सदाचरण द्वारा कदाचार और कुनीति को हटाकर सद्धर्म और सुनीति की स्थापना करते हैं और इस प्रकार मानव समाज का कल्याण साधन कर परम यश के भागी होते हैं।

संसार में ऐसे जितने भी आदर्श महापुरुष हुए हैं उन में से अधिकांश को जन्म देने का श्रेय भारतवर्ष को है। यहां सब प्रकार के एक से एक बढ़कर महात्माओं का आविर्भाव हुआ है किन्तु इन सब में भी भगवान् श्रीकृष्ण का स्थान सब से ऊँचा है। श्रीकृष्ण का चरित्र अनुपम और लोकोत्तर है। हिन्दू लोग उन्हें ईश्वर का अवतार मानकर उनकी उपासना करते हैं। अवतार न मानने वाले भी उन्हें आदर्श कर्मयोगी और सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। इसका कारण यह है कि उनका चरित्र सर्वाङ्गपूर्ण है। मानव जीवन को सफल बनाने के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है श्रीकृष्ण चरित्र में वे सब पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। उन जैसा धुरन्धर नीतिवेत्ता, ज्ञानी और आदर्श कर्मयोगी मानव जाति के इतिहास में

दूसरा नहीं मिल सकता। विद्या, बुद्धि, बल तथा सदाचरण सभी में वे अद्वितीय थे। निष्काम कर्म का उपदेश कर आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन में सामञ्जस्य उपस्थित करने का जो निराला मार्ग उन्होंने प्रदर्शित किया है वह आज भी सर्वमान्य और अनुपम है। उनका यह उपदेश आलस्य और विलासिता में डूबते हुए मनुष्यों की आत्मा में नया जीवन, नई स्फूर्ति उत्पन्न करने वाला है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम उसके तत्व को हृदयङ्गम नहीं करते प्रत्युत अनेक मूर्ख लोग तो इस महापुरुष के चरित्र पर नाना प्रकार के लाञ्छन लगाकर अपनी अज्ञता का परिचय देते हैं। कृष्ण-चरित्र कितना पवित्र कितना उच्च और महान् है इसका उन्हें तनिक भी ज्ञान नहीं है। भगवान् कृष्ण ने अपने समय में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों और दोषों को दूर करने के लिये धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्रान्ति उत्पन्न करदी थी और वास्तविक धर्म का उपदेश कर समस्त देश में धर्मराज्य की स्थापना की तथा मनुष्यों को मानव जीवन के सच्चे उद्देश्य का पाठ पढ़ाया था। यदि उनके चरित्र के रहस्य का सम्यक् अनुशीलन कर तदनुकूल आचरण किया जाय और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग व उपदेशों को ग्रहण कर उनके अनुसार चला जाय तो मनुष्य समस्त विघ्न बाधाओं और सङ्कटों से मुक्त होकर अपने जीवन को सार्थक बना सकता है एवं परम तत्व का लाभ कर निरतिशय आनन्द व परम सुख का भागी बन सकता है।

अब से पांच सहस्र वर्ष पूर्व की बात है जब भारतवर्ष ऐहिक उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। प्रजा धनधान्य से पूर्ण और समृद्ध थी किन्तु फिर भी उसमें सुख और शान्ति का अभाव था। इसका कारण स्पष्ट रूप से यह था कि लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूल गये थे। विलास और आनन्द को ही सुख की सीमा मान बैठे थे। स्वार्थ साधन ही उनके जीवन का लक्ष्य बना हुआ था। देश अनेक छोटे २ स्वतन्त्र राज्यों में बंटा हुआ था। यद्यपि ये सभी राज्य धन, बल तथा विद्या से परिपूर्ण थे तथापि इनमें पारस्परिक ऐक्य और विश्वास का अभाव था। अहङ्कार और औद्धत्य का प्राबल्य था जिसके कारण एक राज्य दूसरे से लड़ा मरता था। सार्वभौम सत्ता के अभाव में प्रजा की रक्षा और देश की भलाई सम्भव नहीं थी। राजाओं के चरित्र भ्रष्ट हो गए थे। किसी को अपने बल का गर्व और लोभ था तो कोई विलासी और दुराचारी था। कहीं अत्याचार से प्रजा पीड़ित थी तो कहीं अन्तःकलह की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। इस प्रकार राज्य-सूत्र अधर्मी राजाओं के हाथ में होने से अधर्म का प्रचार हो रहा था। धर्मपरायण पुरुषों और साधु महात्माओं के हृदय में संसार की ओर से विरक्ति के भाव उत्पन्न हो गये थे। सन्यास की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी। अतः भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति में समन्वय की भावना नष्ट होकर उनमें पार्थक्य भाव का उदय हो गया था। मनुष्य मात्र अपने कर्त्तव्य व आदर्श को भूला जारहा था। ऐसे

ही समय में भगवान् कृष्ण ने जन्म लेकर अपने सदाचरण और उपदेश द्वारा पुनः धर्मराज्य की स्थापना की और सच्चे मार्ग का प्रदर्शन कर पतनोन्मुख हिन्दू जाति का पुनरुद्धार किया।

भगवान् कृष्ण का जन्म परमपावन मथुरापुरी में भाद्रपद कृष्णाष्टमी को अर्द्धरात्रि के समय हुआ था। उस समय मथुरा में कंस नाम का राजा राज्य करता था। यह बड़ा ही दुराचारी, विलासी और अभिमानी था तथा प्रजा पर असह्य अत्याचार करता था। उसने अपने पिता उग्रसेन को बन्दी कर राज्य प्राप्त किया था और अपने बहनोई व बहिन वसुदेव और देवकी को भी कारागार में डाल दिया था। यही वसुदेव देवकी कृष्ण के माता पिता थे। कंस ने वसुदेव के छः बच्चों को मार डाला था। ईश्वर की माया से कृष्ण के जन्म के समय पहरेदारों की असावधानी से कारागार का द्वार खुला रहा. अतः वसुदेव कंस के भय से रातों-रात बालक कृष्ण को गोकुल में अपने मित्र नन्द और उनकी पत्नी यशोदाके यहां पहुँचा आये। नन्द और यशोदा ने बड़े प्रेम और यत्न से उनका लालन-पालन किया। बालकृष्ण रूपी सूर्य की प्रथम रश्मि ही पापात्माओं के हृदयान्धकार को पार कर गई। सज्जनों की सुख-पताका फहराने लगी। महात्माओं में मंगल मनने लगे। दुष्ट, अत्याचारी, अन्यायियों को कुशकुन, अमङ्गल और भय होने लगा। बालक कृष्ण ग्वाल बालों की टोली लिए जङ्गल में मङ्गल मनाते, स्वच्छन्द और निर्भय होकर विचरण करने लगे। स्वच्छ और निर्मल वायु में भ्रमण, नित्य

नई नई क्रीड़ाओं और व्यायाम का अभ्यास, शुद्ध दुग्ध, माखन और मिश्री का सेवन करने से उनका शरीर असाधारण हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर और बलिष्ठ बन गया था। इसी बल के प्रताप से बाल्य-काल में ही कृष्ण ने अनेक दुष्ट और अत्याचारियों का वध किया।

कंस को जब कृष्ण के इन असाधारण कार्यों का पता लगा तो वह बड़ा भयभीत हुआ और उसने उनका वध कराने के लिये नाना प्रकार के षड्यन्त्र रचे। पूतना राक्षसी, केशी, बकासुर और शकटासुर आदि भयङ्कर राक्षसों के द्वारा गुप्तरूप से उन्हें मार डालने का प्रयत्न किया किन्तु कृष्ण में जन्म से ही दैवी शक्ति और विचित्रता थी। कारागार का द्वार खुला रह जाना, पहरेदारों का इस प्रकार असावधान होकर सो जाना, अँधेरी रात्रि में इस प्रकार वसुदेव का यमुना पार करके सुरक्षित रूप से नन्द के यहां कृष्ण को पहुँचा आना आदि सभी अद्भुत लीलायें हैं। महान आत्माओं की शक्ति, पवित्रता का प्रकाश और परमार्थ का पुण्य धर्म के विशाल पर्वतों से निकल कर स्वयं ही अपना मार्ग बनाता हुआ स्वच्छन्द गति से चलता है। सज्जन इस सुख-सरिता में स्नान कर पवित्र हो जाते हैं और दुर्जन दुरात्माये इसकी अटल गति को रोकने के प्रयत्न में घुलघुल कर किनारे के वृक्षों की भांति नष्ट हो जाती हैं। कंस के सभी प्रयत्न विफल हुए और जिस प्रकार पतंगे जलती ज्वाला में गिरकर भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार कंस के भेजे हुए सभी राक्षस कृष्ण के बल और

तेज से नष्ट हो गए। मातृभूमि का प्रेम कृष्ण की रगरग में भरा हुआ था। बाल्यावस्था में ही खेल ही खेल में इस प्रकार राक्षसों का वध, कालियनाग का दमन और इन्द्र के प्रकोप से व्रज की रक्षा कर उन्होंने वृन्दावन को निष्कण्टक बना दिया था, और वंसी की मधुर ध्वनि से गोप गोपिकाओं को रिझाकर वृन्दावन की लीलाभूमि को सुखधाम बना दिया था।

इसके अनन्तर कंस ने कृष्ण को मार डालने के लिये एक और षड्यंत्र रचा। एक अखाड़ेकी योजना करके कृष्ण को मल्लयुद्ध के लिये मथुरा में बुलाया और मुष्टिक व चाणूर नाम के दो प्रसिद्ध पहलवानों से उन्हें भिड़ा दिया। कृष्ण और बलराम दोनों ने इन मल्लों को सहज में ही पछाड़ कर उन्हें स्वर्गधाम पहुँचा दिया। तदनन्तर कृष्ण ने अभिमानी और क्रूर कंस की चोटी पकड़ कर नीचे गिरा दिया और उसकी छाती पर चढ़ कर उसे भी गला घोंट यमपुर भेज दिया तथा उसके पिता उग्रसेन को कारागार से मुक्त कर मथुरा के राजसिंहासन पर बिठा दिया।

दुराचारी कंस के बध का समाचार सुनकर इस राज्य-क्रान्ति से भारत के सभी राजा लोग कृष्ण से डरने लगे। कंस के श्वसुर मगध के बली राजा जरासंध ने एक बड़ी सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई कर दी और उसे चारों ओर से घेर लिया। रक्तपात को बचाने के हेतु से भगवान् कृष्ण मथुरा छोड़कर चले गये परन्तु जरासंध ने उनका पीछा किया। अतः गोमन्त पर्वत पर युद्ध हुआ और कृष्ण ने अपने अद्भुत पराक्रम द्वारा जरासंध

की विशाल सेना का संहार कर उसे पराजित किया। राजनीति निपुण कृष्ण ने अपने कौशल और पराक्रम से अनेकों अत्याचारी राजाओं का दमन किया परन्तु राज्य किसी का नहीं छीना। अभिमान और दम्भ आपको छुवा तक नही था। इतने वीर और प्रतिभाशाली होते हुए भी आप उसी ग्वाल वेश में रहकर सरल जीवन व्यतीत करते थे। उनकी वह मनोमोहिनी मूर्ति शोभा को भी शोभा देने वाली थी।

अब तक कृष्ण को विद्याध्ययन करने का अवकाश ही नहीं मिला था। कंस के मारे जाने पर उनका कण्टक दूर हुआ और तभी क्षत्रियोचित संस्कार होने के पश्चात् उन्हें सन्दीपन मुनि के आश्रम में विद्याध्ययन के निमित्त भेजा गया। अपनी प्रखर बुद्धि और विलक्षण युक्ति के बल से वे अल्पकाल में ही चारों वेद, छहों अङ्ग, उपनिषद्, आदि सभी विषयों में पारङ्गत हो गये। अश्व और गजशास्त्र तथा अस्त्रविद्या और दशाङ्ग सहित धनुर्वेद की शिक्षा में भी वे पूर्ण निपुण हो गये।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि उस समय भारतवर्ष छोटे २ राज्यों में विभक्त था जिनमे निरन्तर परस्पर लड़ाई झगड़े होते रहते थे। कृष्ण की इच्छा थी कि इन सभी राज्यों को सङ्गठित कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की जाये। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की सम्मति दी। यद्यपि उस समय भारत में बड़े बड़े बलशाली राजाओ की कमी नही थी। युधिष्ठिर से भी अधिक शक्तिसम्पन्न

तेजस्वी और प्रतिभापूर्ण राजा थे परन्तु धर्मधुरन्धर, दयावान्, न्यायपूर्ण और सत्यवादी धर्मराज युधिष्ठिर के समान और कोई नहीं था। शुद्ध और पवित्र महान् आत्मायें सदैव धर्म का ही पक्ष लेती हैं। अस्तु नीतिज्ञ कृष्ण ने युधिष्ठिर को ही चक्रवर्ती राजा बनाने का निश्चय किया। राजसूय एक महान् पुण्य कर्म था इसीसे भारत के समस्त राजे महाराजे इसमें सम्मिलित हुये थे। सब से पहिले किस की पूजा की जाय यह प्रश्न उपस्थित होते ही युधिष्ठिर ने ज्ञान, पराक्रम और वयोवृद्ध पितामह भीष्म से इसका निश्चय करने की प्रार्थना की। भीष्म ने प्रस्ताव किया कि "यह जो सब राजाओं के तेज, बल और पराक्रम का अभिमान करते हुये नक्षत्रों मे सूर्य के समान तेजस्वी हैं उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण का पूजन करना चाहिये। इनके बिना इस सभा की वह दशा हो जावेगी जो सूर्य और वायु के बिना संसार की हो सकती है। इससे प्रत्यक्ष है कि कृष्ण को उनके समकालीन बड़े से बड़े महापुरुष भी पुरुषोत्तम, यती और परमात्मा समझते थे एवं उनकी अलौकिक शक्तियों मे विश्वास रखते थे। संसार में सभी प्रकार के मनुष्य रहते हैं। जहां भगवान् कृष्ण के इतने उपासक थे वहां उनकी बुआ का लड़का शिशुपाल जैसे उनका विरोध करने वाले भी उप-स्थित थे। शिशुपाल बड़ा ही बलवान और प्रतापी राजा था किन्तु साथ ही वह अत्यन्त क्रूर और अत्याचारी भी था। उसे कृष्ण का यह सम्मान सह्य न हुआ। अतः भरी सभा में उस

ने भीष्म के इस प्रस्ताव का विरोध किया और कृष्ण को अनेक अपशब्द कह कर लाञ्छित करने लगा। इसका कारण कृष्ण की राज्य-क्रान्ति, सामाजिक सुधार और धर्मप्रियता ही थी। कृष्ण का स्वभाव कितना निर्मल था, उनका आचरण कितना पवित्र था, शिशुपाल वह भली भांति जानता था। इसी कारण उसने कृष्ण के चरित्र पर कोई आक्षेप न कर अन्य प्रकार से कहने न कहने की अनेक बातें कहकर निन्दा की। भगवान् कृष्ण बड़े सहनशील, वीर और गम्भीर थे। यदि वे चाहते तो संकेत मात्र से भीम अथवा अर्जुन द्वारा शिशुपाल का काम तमाम करा देते। परन्तु जब तक सारी सभा उत्तेजित न हो गई और सबने ही शिशुपाल को दण्ड देने का निश्चय नही किया, प्रजातन्त्रवादी कृष्ण उसकी गालियां सुनते ही रहे। अन्त में सब की सम्मति देख कर और यह विचार कर कि "जो नहिं दण्ड करौ खल तोरा, भ्रष्ट होय श्रुति मारग मोरा।" कृष्ण ने बात की बात में चक्र द्वारा उसका मस्तक धड़ से अलग कर दिया।

इस राजसूय यज्ञ की योजना से कृष्ण ने और भी सभी दुष्ट राजाओं का दमन करा दिया। दिग्विजय के बीच में भीम के द्वारा मल्ल युद्ध में जरासन्ध का वध करा कर उन्होने उसके कारागार में पड़े हुए अनेकों राजाओं और सोलह सहस्र रानियों को भी मुक्त कराया। इससे सर्वत्र कृष्ण के बल और वीर्य की ख्याति फैल गई।

राजसूय यज्ञ के समय में ही कृष्ण को यह समाचार मिला कि कई धर्मविरोधी, स्वार्थी और एकतंत्रवादी राजाओं ने द्वारिका को घेर लिया है। अतः यज्ञ समाप्त होने पर वे तुरन्त द्वारिका चले गये और वहां उन्होंने उन राजाओं को पराजित कर उसकी रक्षा की। इधर कौरव गण पाण्डवों की इस बढ़ती हुई शक्तिको सहन न कर सके। उन्होंने षड्यन्त्र द्वारा युधिष्ठिर को जुए में हरा कर उनका सारा राजपाट छीन लिया और उन्हें १३ वर्ष का बनवास देदिया। अवधि समाप्त होने पर जब पाण्डवों ने अपना राज्य वापिस मांगा तब राज्य तो दूर कौरवों ने पांच गांव भी उनके रहने को नहीं दिये। विरोध बढ़ता ही गया। भगवान् कृष्ण को भला कब चैन पड़ सकता था। जन्म से ही वे तो दुष्टों का दमन करते आये थे। दुष्कृतियों के नाश करने के निमित्त ही वे अवतरित हुए थे। पहिले तो उन्होंने कौरवों और पाण्डवों को समझा कर इस विरोध को शान्त करने के प्रयत्न किए, पर बहुत समझाने पर भी जब कौरवों ने किसी भी प्रकार सन्धि करना स्वीकार न किया तब अधर्मी, दुराचारी और आततायियों के दमन द्वारा भूभारहरण के हेतु उन्होंने महाभारत का रोकना उचित नही समझा। युद्ध की घोषणा कर दी गई और भगवान् कृष्ण ने स्वयं धर्म, नीति और मर्यादा की रक्षा के निमित्त पाण्डवों का पक्ष लिया, किन्तु युद्ध में उन्होंने स्वयं शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा कर अर्जुन का केवल सारथि बनना ही स्वीकार किया। इतना ही नही शत्रु पक्ष में अपने ही आचार्य, पितामह, मामा आदि संबन्धियों

देख कर जब अर्जुन को मोह हो गया और उन्होंने युद्ध न करने की इच्छा प्रकट कर गाण्डीव को छोड़ दिया तब उसकी इस अकर्मण्यता और कायरता को दूर करने के लिए भगवान् कृष्ण ने युद्ध भूमि में ही उसे गीता का वह दिव्य उपदेश दिया जिससे आज भी भारतभूमि समस्त भूमण्डल में अपना मस्तक ऊँचा उठाये हुए है।

भगवान् कृष्ण को हुए यद्यपि सहस्रों वर्ष हो गये परन्तु आज तक किसी भी देश, काल अथवा भाषा में गीता के जैसे विचार न आये है और न आ सकते हैं। गीता में भगवान् कृष्ण के पवित्र, निर्मल और योगयुक्त अलौकिक चरित्र का प्रत्यक्ष आभास मिलता है। कर्म, भक्ति और ज्ञान के पुष्पों से गूंथकर भगवान् ने भारतमाता के कण्ठ में यह कभी न मुरझाने वाली माला डाल दी है। सहस्रों मनुष्यों की पथ-प्रदर्शक, सर्वमान्य, और क्षुब्ध अन्तः करण को शान्ति प्रदान करने वाली भगवान् कृष्ण की यह गीता संसार-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। इस अद्वितीय उपदेश का भारत को अभिमान है और युगयुगान्तर में भी कृष्ण और उनकी गीता का नाम स्वर्णाक्षरों में अङ्कित रहेगा।

कृष्ण का पुण्यमय चरित्र आदि से अन्त तक कर्मशील रहा है। अपने इसी आदर्श को उन्होंने गीता में कर्मयोग का स्थान दिया है। मनुष्य को फलाशा छोड़ कर निरन्तर कर्म करते रहना चाहिये और अकर्मण्य बनकर कभी हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहना चाहिये, यही कर्मयोग है। साथ ही अपने समस्त कर्मों के

पाप पुण्यमय दोषों से निवृत्ति पाने के लिये उन्हें ईश्वरार्पण कर देना ही भक्ति योग है। ज्ञान, सन्यास के द्वारा ईश्वर, जीव और जगत को जान लेना ही ज्ञानयोग है। इन्हीं तीनों योगों को प्राप्त कर लेने से मनुष्य सर्वसामर्थ्यवान् हो सकता है। इसी योग की सामर्थ्य से कृष्ण ने अनेकानेक अद्भुत लीलायें की थीं। उनके चरित्र पर अल्पज्ञ भांति भांति की शङ्कायें करते हैं परन्तु उनके गूढ, आध्यात्मिक रहस्य को अच्छी तरह समझने के पश्चात् किसी को भी उस लीलाधर नटवर के विचित्र चरित्रों में लेशमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। आत्मज्ञान, विज्ञान, तपोवल एवं चरित्र की इस अनुपम पवित्रता से ही भगवान् ने अभिमन्यु के मृत पुत्र परीक्षित को जीवदान दिया था। उस समय उन्होंने और किसी ईश्वरीय शक्ति का सहारा न लेकर केवल अपने चरित्र को ही साक्षी करके इस प्रकार कहा था—

"यथा सत्यञ्च धर्मञ्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतामभिमन्युजः॥"

अर्थात् 'यदि मुझ मे सत्य और धर्म की वराबर प्रतिष्ठा है तो अभिमन्यु का यह मृत पुत्र जीवित हो उठे।' तप और तेज की शक्ति से क्या नहीं हो सकता? परन्तु भगवान् को सम्पूर्ण जीवन ही आश्चर्यमय है।

कृष्ण इतने निष्पक्ष और धर्मधुरीण थे कि अपने कुटुम्बियों को भी वे अत्याचारी और अन्यायी होते नहीं देख सकते थे। इसी कारण अन्तःकलह की अग्नि प्रज्वलित कर उन्होंने यादवों

को भी समूल नष्ट करा दिया। इन्हीं सब बातों को देखकर उन्हें प्रकृति का वशवर्ती जीव नहीं अपितु उसका अधिष्ठाता मानते हैं। धर्म की रक्षा के लिये ही उन्होंने इस धराधाम पर अवतार धारण किया था जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"

'जब जब धर्म की हानि और अधर्म का प्रसार होता है तब तब मैं जन्म धारण करता हूँ।'

२–महात्मा बुद्ध

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का प्रसार होता है, तब तव मैं धर्म की पुनः स्थापना और अधर्म-नाश के निमित्त किसी विशिष्ट आत्मा के रूप में जन्म धारण करता हूं। उसी को हम अवतार कहते हैं—भगवान् की विशिष्ट विभूति समझते हैं। अवतार रूप में आविर्भूत होकर अनेक महापुरुष अनेक महान् कार्य साधन करते हैं किन्तु उन सब में धर्म रक्षा सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि संसार की स्थिति का आधार एक मात्र धर्म ही है। स्वयं भगवान् कृष्ण का जन्म भी इसी उद्देश्य को लक्षित कर हुआ था। जब धर्म का ह्रास होने लगता है और सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाती है तो भगवान् का आसन डोलने लगता है और तब वे उसकी रक्षा के हेतु अपनी विशिष्ट विभूति को जन्म देकर जगत् का परित्राण करते हैं।

महाभारत युद्ध के पश्चात् बहुत समय तक भारतवर्ष की दशा बिगड़ती ही चली गई यहां तक कि ईसा संवत् के प्रारम्भ होने से लगभग ६०० वर्ष पूर्व यहां धर्म की मर्यादा अत्यन्त क्षीण हो

गई थी। प्रभावशाली राजाओं का प्रायः अभाव ही था। क्षात्र तेज का नाश हो चुका था। सर्वत्र अराजकता के विचार फैल रहे थे। धार्मिक और नैतिक नेताओं के अभाव से प्रजा मन-माना आचरण करने लगी थी। वैदिक आर्यों की प्राचीन सभ्यता जिसे ऋषियों ने वैदिक काल के प्रारम्भ में स्थापन किया था अनार्यों के संसर्ग से दूषित हो गई थी। भारतवासी वेद और धर्म मार्ग का परित्याग कर विपथगामी हो रहे थे। ब्राह्मण पुरोहितों ने भी अपना स्वरूप भुला दिया था। शुद्ध वैदिक अध्यात्मवाद का स्थान कर्मकाण्ड ने ले लिया था। तपोधन ऋषियों की सन्तानों को दक्षिणा के लोभ ने इतना आ घेरा था कि उन्होंने यज्ञ कराना ही अपना परम कर्तव्य समझ रक्खा था। यज्ञ के बहाने खुल कर हिंसा की जाती थी। यज्ञ में मारे जाने से स्वर्ग मिलता है--इस बात को वे शास्त्रीय प्रमाणों से प्रमाणित कर हिंसा को प्रधान धर्म मानते थे। दयाधर्म का सर्वथा लोप हो गया था। यज्ञ में वध किये जाने वाले दुर्बल पशुओं की चीत्कार से भारत का घर घर गूँजने लगा था पर किसी भी मानव नामधारी व्यक्ति के हृदय में दया भाव का सञ्चार न होता था। ऐसे समय में इस कदाचार की ओर करुणावरुणालय स्वयं भगवान् का ध्यान आकृष्ट हुआ और उसी के फल स्वरूप महात्मा बुद्ध देव का आविर्भाव हुआ।

महात्मा बुद्ध देव के जन्म और निर्वाण काल के सम्बन्ध में यद्यपि विद्वानों में मत भेद हैं तथापि अनेक विद्वानों का

मत है कि उनका जन्म ईसा से ५५७ वर्ष पूर्व और निर्वाण ४७७ वर्ष पूर्व हुआ था। प्राचीन काल में हिमालय की तराई में अचिरावती और रोहिणी नाम की दो पहाड़ी नदियों के मध्य में कपिलवस्तु नामक एक छोटा सा राज्य था। उसकी राजधानी भी उसी नाम से प्रख्यात थी। यही कपिलवस्तु बुद्ध की जन्मभूमि थी। यहां इक्ष्वाकु वंश की अन्यतम शाखा शाक्य-वंशीय क्षत्रियों का शासन था। महाराज सिंहहनु उनमें एक बड़े प्रतापशाली राजा हो गये हैं। उनके परलोक-गमन पर उनके ज्येष्ठ पुत्र शुद्धोदन सिंहासनारूढ़ हुए। यही महाराज शुद्धोदन बुद्धदेव के पिता थे। ये बड़े ही धर्मनिष्ठ, शान्त-प्रकृति और प्रजावत्सल थे। देवदह के महाराज सुप्रभूत की दो राजकुमारियों मायादेवी और प्रजावतीके साथ इनका पाणिग्रहण हुआ था। कहते हैं कि महाराज शुद्धोदन की अवस्था ४० वर्ष से भी अधिक हो गई थी तब तक उनके कोई सन्तान न थी। सब प्रकार के वैभव और ऐश्वर्य से सम्पन्न होने पर भी सन्तानाभाव के कारण वे सदा दुखी रहते थे। उनके इस दुःख से उनकी सारी प्रजा और बन्धु-बान्धव भी अत्यन्त दुखी थे।

अनेक यज्ञादि करने पर महाराज की ४५ वर्ष की आयु में उनकी पटरानी मायादेवी गर्भवती हुईं। राजपरिवार तथा प्रजा-वर्गने जब यह समाचार पाया तो वे बड़े ही प्रसन्न हुए और अनेक प्रकार के आनन्दोत्सव मनाने लगे। प्रसवकाल से कुछ पूर्व माया-देवी ने पितृगृह जानेकी अभिलाषा प्रगट की। महाराज की आज्ञा-

नुसार इसको समुचित प्रबन्ध कर दिया गया। जाते हुए मार्ग में लुम्बिनी नामक बन मे उन्होंने डेरा डाला और यही महारानी को प्रसववेदना हुई। यथासमय माघ की पूर्णिमा को उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। महाराजने यह शुभ समाचार पाकर बड़ा उत्सव मनाया। राज-भवन मङ्गल-वाद्यों से मुखरित हो उठा। अनेक दीन दुखियो तथा ब्राह्मणों को नाना प्रकार के दान द्वारा सन्तुष्ट किया गया। अपने मनोरथ के पूर्ण होने पर अत्यन्त हर्षोल्लसित होकर महाराज ने कुमार का नाम सिद्धार्थ रक्खा। पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात् प्रसव-सप्ताह के मध्य में ही मायादेवी का स्वर्गवास होगया। राजा को इससे अत्यन्त शोक हुआ पर सद्योजात सन्तान का मुख देखकर उन्होंने यथाकथञ्चित् धैर्य धारण किया और उसे उसकी मासी प्रजावती उपनाम गौतमी को सौप कर वे उसकी रक्षा और लालन-पालन में तत्पर हो गए। गौतमी के द्वारा पालित पोषित होने के कारण ही सिद्धार्थ का दूसरा नाम गौतम पड़ा।

बाल्यावस्था में ही बुद्ध के प्रशस्त ललाट को देखकर महापुरुष होने का सन्देह होने लगा था। असित नाम के एक बड़े प्रसिद्ध ज्योतिषी ने गणित कर राजा से कहा था—'राजन् आप बड़े भाग्यशाली हैं जो ईश्वर ने आपको ऐसा सर्वलक्षण-संपन्न पुत्र दिया है। इसकी बड़ी सावधानी से रक्षा करनी चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि युवावस्था में यह सन्यास ग्रहण करेगा। कोई भी राजकीय वैभव इसे आकृष्ट न कर सकेगा। पर यदि

किसी प्रकार इसका मन सांसारिक विषयों में लगाकर इसे गृहस्थाश्रम मे प्रवृत्त कराने का प्रयत्न किया जाय तो निश्चय ही यह चक्रवर्ती सम्राट् होगा। असित की बात सुनकर महाराज बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने कुमार को यथासाध्य राजोचित शिक्षा देने का संकल्प किया।

आठ वर्ष की अवस्था में प्रथा के अनुसार उपनयन संस्कार होने पर वे गुरु के यहां पढ़ने को भेज दिये गए। महर्षि विश्वामित्र नामक एक योग्य श्रोत्रिय ब्राह्मण को उनकी शिक्षा का भार सौंपा गया। सिद्धार्थ की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। अल्प काल में ही उन्होंने अनेक शास्त्रों और लिपियों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। आचार्य विश्वामित्र ने अपने शिष्य की प्रखर बुद्धि से अति विस्मित हो उसे दर्शन शास्त्र की शिक्षा दी और सांख्य, न्याय, वेदान्तादि सभी विषय भली भांति पढ़ा दिये। यथा समय पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर कुमार ने विद्याध्ययन समाप्त किया और गुरु की आज्ञा प्राप्त कर घर लौट आये। महाराज शुद्धोदन निखिल-विद्या-निष्णात युवराज को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

बाल्यावस्था से ही बुद्ध अत्यन्त चिन्ताशील, अध्यवसायी और परदुःख-कातरस्वभाव के थे। पूर्ण युवावस्था के प्राप्त होने पर भी उनका मन साधारण राजपुत्रोंकी भांति आमोद प्रमोद और विलास की ओर आकृष्ट न हुआ। वे एकान्तवास के बड़े प्रेमी थे। सुख दुःख की उन्हे कुछ चिन्ता न थी। एकान्त में बैठे वे नित्य संसार के दुःखों का निदान और उनकी निवृत्ति का उपाय सोचा

करते थे। महाराज उनकी यह दशा देखकर मन ही मन बड़े दु:खी होते थे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि कुमार क्षत्रियोचित कार्यों में दत्तचित्त हो। सांसारिक भोगों में आसक्त करने के विचार से उन्होंने सिद्धार्थ के लिये एक नवीन भवन और सुन्दर आराम निर्माण कराया और अनेक प्रकार की उत्तम वस्तुओं तथा भोग-विलास की सामग्रियोंसे उसे सुसज्जित करा दिया। संसार की ओर कुमार का मन खिंच आवे इसके लिये उन्होंने नाना प्रकार के उपाय किये पर फल कुछ न हुआ। अन्त में उन्होंने कुमार को विवाह-बंधन में बांधने का निश्चय किया और अपने पुरोहित को योग्य वधू की खोज करने की आज्ञा दी। राजपुत्रों के लिये कन्याओं की कमी नहीं होती। छानबीन करने पर शीघ्र ही देव-दह के महाराज दण्डपाणि की कन्या गोपा उपनाम यशोधरा के साथ सिद्धार्थ का पाणिग्रहण होगया। गोपा अत्यन्त रूपवती, गुणवती और शीलवती थी। नव वधू के आगमन से परिवार के सभी मनुष्य बड़े प्रसन्न थे परन्तु कुमार के चित्त में किसी प्रकार का परिवर्तन न हुआ। विवाह होने पर भी उनका एकान्तवास न गया। वे नित्य आराम मे बैठे हुए सुख दुःख और जन्म मरण के प्रश्नों पर विचार करते रहते थे। इस प्रकार दस वर्ष पर्यन्त अनिच्छापूर्वक उन्होंने गृहस्थाश्रम में अवस्थान किया, किन्तु पिता का स्नेह, गुणवती भार्या का प्रेम और राजप्रासाद की विविध विलास सामग्री कुछ भी उनको मुग्ध न कर सकी। उनका हृदय विरक्ति से परिपूर्ण था।

आरामके बाहर वे बहुत कम निकला करते थे। एक दिन उन्होंने बाहर घूमने जानेकी इच्छा प्रकट की। राजाने आज्ञा प्रदान कर इसकी व्यवस्था कर दी। सारा नगर भली प्रकार सुसज्जित किया गया। प्रात काल होते ही रथ में आरूढ़ हो वे नगर भ्रमण के लिये निकल पड़े। घूमते-घामते दोपहर हो गया। सिद्धार्थ की आज्ञा से घर आने के लिये रथ लौटाया गया। लौट कर आते समय मार्ग मे कुमार ने एक वृद्ध को देखा। उसके अंग प्रत्यंग शिथिल हो गए थे। अन्न के बिना शरीर सूख गया था। आंखों की ज्योति क्षीण हो गई थी। वह लाठी के सहारे घूम कर भिक्षा मांग रहा था। उसे देखकर सिद्धार्थ को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपने सारथी छन्दक से पूछा—"यह कौन है? इसकी दशा ऐसी क्यों हो रही है?" छन्दक ने उत्तर दिया—"महाराज यह एक वृद्ध है। वृद्धावस्था के कारण इसकी इन्द्रियां शिथिल हो गई हैं। इसके बन्धुबान्धवों ने इसे त्याग दिया है। अतः भिक्षा द्वारा यह अपना निर्वाह करता है। कुमार ने आज तक जराग्रस्त किसी पुरुष को न देखा था, अतः सारथी का उत्तर सुनकर वे बड़े विस्मित हुए और पूछने लगे। "यह बूढ़ा क्यों हुआ? क्या यह इसका कुल धर्म है अथवा समस्त ससार की यही व्यवस्था है?" छन्दक बोला—"महाराज यह संसार का नियम है। सभी प्राणी जरा द्वारा अभिभूत होते हैं। एक न एक दिन आप, आप के माता-पिता, भाई बन्धु और सभी प्राणी जराग्रस्त होंगे।"

सारथी की बात सुनकर कुमार के मन में बड़ी ग्लानि हुई। मानव-शरीर की होने वाली दुरवस्था का विचार कर उनका अन्तःकरण वैराग्य से पूर्ण हो गया। वे शीघ्र ही लौट कर घर आए और रात दिन यही सोचते रहे कि किस प्रकार इस जरा नामक महाव्याधि का नाश किया जा सकता है। कुछ काल उपरान्त उन्होंने फिर नगर से बाहर जाने का संकल्प किया। अब की बार वे प्रासाद से निकल कर रथ पर बैठे नगर की शोभा देखते जा रहे थे कि अकस्मात् उनकी दृष्टि एक ऐसे मनुष्य पर पड़ी जो किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो अति जीर्ण शीर्ण-काय हो गया था। वह उठने का प्रयत्न करता था पर लड़खड़ा कर गिर पड़ता था और वेदना के कारण कराह रहा था। उसे देखकर सिद्धार्थ के मन मे बड़ी दया आई। उन्होंने सारथि से पूछा—"छन्दक! यह कौन है? इसका गात्र विवर्ण और इन्द्रियां विकल क्यों हो रही हैं?" छन्दक ने उत्तर दिया—'राज कुमार! यह रोगी है। रोग से इसके शरीर का तेज और सौन्दर्य नष्ट हो गया है। यह असहाय होकर यहां पड़ा है।' कुमारने फिर पूछा—'क्या यह रोग मुझे भी हो सकता है?' छन्दक बोला--"कुमार! शरीर रोगों का घर है। कोई शरीर-धारी क्यों न हो उसे रोगाक्रान्त होना ही पड़ता है।" छन्दक की बात सुनकर सिद्धार्थ बहुत दुखी हुए और सोचने लगे--'यदि नीरोगता स्वप्न-क्रीड़ा के तुल्य है तो फिर कौन बुद्धिमान् शारीरिक सुखों के लिए मूर्खतापूर्ण प्रयत्न करेगा।' यही सोचते हुए उन्होंने सारथि

से रथ लौटाने को कहा और घर आकर फिर पूर्व की भांति चिन्तामग्न हो गए।

तीसरी बार वे मन बहलाने के विचार से एक दिन फिर आराम के बाहर निकले तो दैवयोग से उनके उद्‌बोधन के लिये एक और दृश्य सामने उपस्थित हो गया। कुमार ने देखा कि एक मनुष्य को वस्त्र मे लपेट कर और कन्धे पर रखकर चार आदमी लिये जारहे हैं और कई मनुष्य उनके साथ विलाप करते जारहे हैं। यह देख कर कुमार ने सारथी से पूछा—यह क्या है और ये मनुष्य क्यों रोरहे हैं ?" सारथीने उत्तर दिया—'देव ! यह शव लिये जारहे हैं। इस मनुष्य के प्राण पखेरू उड गये हैं। अब यह पुन. अपने कुटुम्बियों व जातिवालों को नहीं मिलेगा। इस का मृत शरीर श्मशान में अग्निसात् करदिया जायगा। कुमार ने पूछा " क्या सभी मरते है ? छन्दक बोला—" कुमार प्राणियों की मृत्यु निश्चित है। मृत्यु से कोई नहीं बच सकता।" सारथी की बात सुनकर कुमार का हृदय दहल उठा। उन्हे सारा संसार क्षणभंगुर प्रतीत होने लगा। मानवजीवन का तत्व उनकी समझ मे आया। उन्होने छन्दक से कहा—"यदि ऐसी बात है तो जीवन को क्षण भंगुर कहना चाहिये। फिर राज्य की क्या आवश्यकता है ? नश्वर पदार्थों से प्रेम करना विद्वान् का काम नही। यौवन, आरोग्य तथा जीवन सबको धिक्कार है क्योंकि इनमे से कुछ भी चिरस्थायी नही हैं और उस पण्डित को भी धिक्कार है जो यह सब जानता हुआ भी विषयों में निरत होता

है। सांसारिक यंत्रणाओं से मुक्ति पाना ही परम धर्म है।"

लौट कर कुमार सिद्धार्थ अपने भवन में गए, पर वहां अब इन्हें आनन्द नही आया। साधारण मनुष्यों और महात्माओं के जीवन मे यही अन्तर है कि साधारण मनुष्य अपने जीवन में सांसारिक घटनाओं को देखता हुआ भी उनसे उपदेश ग्रहण नहीं करता। नित्य ही तरह २ की घटनायें हुआ करती है किन्तु वह उनपर कुछ ध्यान नही देता। पर महात्मा लोग अपने जीवन में समस्त संघटित घटनाओं को बड़े कुतूहल से देखते हैं, उनके कारण का अन्वेपण करते हैं और उनसे शिक्षा ग्रहण करते हैं। सिद्धार्थ भी इसी कोटि के महात्मा थे। उपर्युक्त दृश्यों का उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय ढूंढने लगे पर कोई मार्ग निश्चित न कर सके। एक बार उन्होंने काषायवस्त्रधारी एक पुरुष को देखा जो हाथमे कमण्डलुको लिए शान्तचित्त बैठा था। उसका लोकोत्तररूप देखकर कुमार बड़े प्रसन्न हुए और सारथि से पूछने लगे—"यह कौन है?" उसने उत्तर दिया—"देव! यह सन्यासी हैं। संसार को अनित्य समझ कर इन्होंने इसका परित्याग कर दिया है। अब यह अपने पवित्र तथा विनीत आचरण और सदुपदेश द्वारा निरन्तर लोगों का कल्याण किया करते है।" सिद्धार्थ को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई और सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए उन्होने भी संसार-त्याग का निश्चय किया। घर आकर वे गृहस्थ आश्रम को छोड़ संन्यास ग्रहण करने का उपाय ढूंढने लगे।

एक दिन की बात है कि उनके एक सेवक ने उन्हें यशोधरा के पुत्र उत्पन्न होने का समाचार दिया। उसे सुनकर पहले तो कुमार को हर्ष हुआ परन्तु कुछ देर विचारमग्न होने पर उनका मानसिक आह्लाद तिरोभूत हो गया। पुत्रोत्पत्ति राग-बन्धन का हेतु है यह ध्यान आते ही वे अत्यन्त विषादग्रस्त हो गये। कुछ दिन उपरान्त उन्होंने अपने पिता से प्रव्रज्या लेने की अनुमति मांगी पर वह सहमत न हुए। तब कुमार ने कहा कि यदि आप मुझे यह वरदान दें कि मै सदा युवा, नीरोग और अमर बना रहूं और कभी विपन्नावस्था में न पड़ूं तो मै कभी गृहस्थाश्रम का त्याग न करूं। शुद्धोदन यह सुनकर चुप हो रहे। कुमार ने एक दिन रात्रिको चुपके से घरसे निकल जानेका दृढ़ संकल्प कर लिया। आषाढ़ पूर्णिमा का दिन था। अर्ध रात्रि का समय था। सब लोग निद्रा के वशीभूत थे। इसी समय जाने से पूर्व कुमार ने एक बार गोपा और पुत्र को देखना चाहा। गोपा सो रही थी। उसके पास ही बालक सोता था। कुमार ने उन्हें देखा। उनका मन व्याकुल हुआ। एक स्वाभाविक प्रेम का दृश्य उन्हें निश्चित मार्ग से हटाने के लिए सामने आया। सहसा उन्हें उद्‌बोधन हुआ और वे मोह माया को छोड़ कर तुरन्त वहां से चल दिये। किसी को पता भी न चला कि वे कहां, कब और क्यों गये। प्रातःकाल होने पर राजा को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने कुमार को ढूंढने के लिए नौकरों को भेजा पर खोज करनेपर भी उनका कुछ पता न चला। उनको ढूंढने का सारा प्रयास विफल हुआ।

घर से निकल कर सिद्धार्थ सबसे प्रथम रेवत ऋषि के आश्रम में पहुँचे। यहां उन्होंने कुछ समय तक योगाभ्यास सीखा। तत्पश्चात् वे वैशाली नगर में आण्डकालाम नामक विद्वान के ब्रह्मचर्याश्रम में गए और वहां कुछ दिन शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर वे राजगृह आये। राजगृह में रामपुत्र रुद्रक नाम का एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् रहता था। उसकी प्रशंसा सुन कर वे उससे मिलने गए और उनसे योग की अनेक विद्याएं सीखी। एक बार जब वे भिक्षा मांगने नगर में गए तो लोगों ने उनके राजलक्षणों को देखकर वहां के राजा बिम्बिसार को इसकी सूचना की। बिम्बिसार ने सिद्धार्थ के पास पहुँचकर अनेक उपदेशों द्वारा उन्हें सन्यास से विमुख होकर राज्यैश्वर्य भोग करने की प्रेरणा की पर सिद्धार्थ अपने संकल्प से तनिक भी विचलित नही हुए। राजगृह से वे हिमाचल पर विन्ध्यकोष्ठ आश्रम में अण्डमुनि के पास पहुंचे। अण्ड मुनि के आश्रम में भी उन्होंने अनेक ऋषि मुनियों के सिद्धान्तों को सुना और उन पर मनन किया पर इससे भी उन्हें कुछ सन्तोष न हुआ। तदनन्तर वर्षों तक अनेक स्थानों में घूम-घूम कर ज्ञानोपार्जन और घोर तपस्या की और शाश्वत सुख की खोज करने लगे। अन्त मे वे गयशीर्ष पर्वत (गया) के समीप निरंजना-नदी-तटस्थ उरुविल्व नामक ग्राम में पहुँचे और इस स्थान को उपयुक्त समझ कर वहीं पर तपस्या करने लगे। उरुविल्व में उनके साथ उनके पांच शिष्य भी थे जो राजगृह से ही उनके साथ हो लिए थे।

उन्हीं के साथ यहां वे एक पीपल के वृक्ष के नीचे समाधि लगा कर बैठ गये। छः वर्ष बीतने पर उनकी समाधि भङ्ग हुई। उस समय इनका शरीर बड़ा दुर्बल हो गया था। कुछ दिन के बाद स्वस्थ होकर इन्होंने पुनः समाधि लगाई और वर्षों तक इसी प्रकार समाधिनिरत रहे। अन्त में एक दिन उन्होंने आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया। आषाढ़ की पूर्णिमा को उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ और तभी से वे बुद्ध नाम से प्रसिद्ध हुए। अब वे अपने ज्ञान का उपदेश करने और संसार को निर्वाण मार्ग दिखलाने के लिये पृथ्वी-परिभ्रमण करने लगे और सर्वत्र अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया।

तपस्या से निवृत्त होकर उन्होंने देखा कि धर्म के नाम पर देश में महान् अत्याचार हो रहा है। बाह्याडम्बर, व्यभिचार और बलिदान को ही धर्म समझा जाता है। भारतवासियों का हृदय नैतिकता से सर्वथा शून्य हो गया है। अतः सर्वप्रथम इन्हीं बुराइयों का मूलोच्छेद करने के लिये वे कटिबद्ध हो गए। समस्त भारत में घूमकर वे अपने सिद्धान्तों का प्रचार और उपदेश करने लगे। उनका कथन था कि "जाति भेद से कोई ऊँच व नीच नहीं है।" छोटे बड़े सब मनुष्य हैं और इसीलिये समान हैं। धर्म के बाह्य लक्षणों की आवश्यकता नहीं। दान तथा पशुहिंसा के द्वारा धर्मानुष्ठान नहीं किया जाता। सत्य व्यवहार और पवित्र आचरण ही धर्म है। पशुओं का बलिदान पाप है। मोह ही सब बंधनों का कारण है। मोक्ष प्राप्ति का उपाय मोह ममता को छोड़कर प्राणिमात्र

का हितसाधन और मनका स्थिर करना है।" "अहिंसापरमोधर्मः" यह बुद्ध का मुख्य उपदेश था। वामियों के अत्याचार से लोग घबरा उठे थे अतः बुद्ध की सीधी सादी बातों ने उनके हृदय पर जादू का सा प्रभाव डाला। अनेक लोगों ने उनके चलाए हुए धर्म को ग्रहण किया। अनेक राजाओं ने भी अपने पितृपितामह-स्वीकृत धर्म का परित्याग कर बुद्ध के नए धर्म को ग्रहण किया। महाराज बिम्बिसार तथा अनेक ऋषि मुनि भी उनके शिष्य हो गए। पिता को देखने की इच्छा से एक बार बुद्धदेव फिर कपिल-वस्तु आए। पुत्र को देखकर शुद्धोदन को अत्यन्त आनन्द हुआ और साथ ही उसके भिक्षुक स्वरूप को देखकर दुःख भी हुआ। गोपा तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों ने भी बुद्ध के उपदेश से बौद्धधर्म स्वीकार किया। इसी अवसर में महाराज शुद्धोदन का स्वर्गवास हो गया।

महात्मा बुद्ध को अपने धर्म का प्रचार करते हुए ४५ वर्ष व्यतीत हो गए। इस समय उनकी अवस्था ८० वर्ष की थी। एक दिन वे गया से कुशीनगर प्रचार के लिये आए। मार्ग में एक लोहार के यहां उन्होंने कुछ चावल और मांस का आहार किया जिससे उनके उदर में पीड़ा हुई और आंव हो गई। कुशीनगर पहुँचते २ वे बड़े दुर्बल हो गए थे। वहां उन्होंने शिष्यों को बुलाकर बौद्ध धर्म के प्रचार और संगठन के विषय में शिक्षा दी और अन्त में वहीं अपना कर्त्तव्य समाप्त कर ऐहिक लीला संवरण की।

संसार में अनेक धर्म प्रचलित हुए और विलुप्त भी हो गए पर बौद्ध धर्म की गति उन सब में विलक्षण थी। पृथ्वी के सभी देशों में इसका प्रचार हुआ और आज तक अनेक देशों में उस का प्रभाव चिरस्थायी है। भगवान् बुद्ध ने अपनी कठिन तपस्या के द्वारा जो बातें जानीं उन्हें संसार के कल्याणार्थ प्रकाशित कर दिया। उन बातों को न केवल भारतीयों ने अपितु चीन, जापान, स्याम, तिब्बत, कोरिया, लङ्का आदि के निवासियों ने भी माना और उन पर विश्वास कर अनुष्ठान किया। उनके उपदेश सदैव संसार के कल्याण के लिये प्रधान साधन समझे जायँगे।

❀ ❀ ❀

३—स्वामी शंकराचार्य

इस परिवर्तनशील संसार में किसी भी वस्तु का स्वरूप सदैव एकसा नहीं रहता। क्या समाज, क्या धर्म, क्या नीति सभी में निरन्तर कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होता है परन्तु परिवर्तन का अर्थ प्रतिगामिता नहीं अपितु विकास एवं उन्नति-उत्कर्ष है। प्रतिगामिता अधःपतन का हेतु है। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के अनन्तर लगभग १२०० वर्ष तक भारतवर्ष में बौद्ध धर्मका बोल-बाला रहा। अनेक राजाओं और महाराजाओं के आश्रय से इसके प्रचार में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। महाराज हर्षवर्धन के राजत्व काल में तो यह उन्नति की पराकाष्ठा को पहुंच गया था। पर उसके उपरान्त ही ईसा की सप्तम शताब्दी के उत्तरार्ध से शनैः २ इसका भी ह्रास प्रारम्भ हुआ। बौद्धधर्मावलम्बियों की विलासिता, व्यभिचार और स्वार्थपरता ही इसके पतन का कारण हुए। वाममार्गियों के जिस पापाचार को विध्वंस करने के लिये बुद्ध संप्रदाय का आविर्भाव हुआ था बौद्ध धर्मानुयायी भी इस समय उसी में लिप्त हो गये। सहस्रों स्त्री और पुरुष भिक्षुक हो गये थे। बाह्याडम्बरो ने प्रायः वास्तविक धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया था। वेदों, शास्त्रों और पुराणों में लोगों की श्रद्धा नहीं रही थी।

वैदिक धर्म तो लुप्तप्राय ही हो गया था। बौद्ध लोग और उनके मतानुयायी राजागण वैदिक धर्मावलम्बियों को नाना-प्रकार से उत्पीडित करते और धर्म के नाम पर उन पर भांति२ के अत्याचार करते थे। अहिंसा धर्म के अनुगामी बौद्ध इस समय हिंसा की सजीव मूर्ति बने हुए थे। वे हिन्दुओं को जीवित ही अग्नि मे जला देते और पर्वत शिखरों से उन्हें गिराकर वैदिक धर्म के सत्य की परीक्षा लेते थे। वेद और धर्म का परित्याग कर भारत-वासी, इस समय विपथगामी हो रहे थे। ऐसे भयङ्कर धर्म-विप्लव के समय दक्षिण के मलाबार प्रान्त में भगवान् शंकर का आविर्भाव हुआ जिन्होंने बौद्ध युग के कदाचार और कुनीति का उच्छेदन कर पुरातन वैदिक धर्म की पुनः प्राणप्रतिष्ठा की और पतित हिन्दू जाति का पुनरुद्धार किया। यदि उस समय शङ्कर न होते तो हिन्दू धर्म रसातल को चला गया होता और हिन्दू जाति का नाम संसार से मिट गया होता। यह इसी महा-पुरुप का कार्य था कि अपने तप-तेज और विद्या-बुद्धि के वैभव से वैदिक धर्म की रक्षा कर हिन्दू धर्म, संस्कृति और सभ्यता का परित्राण किया।

शंकर का जन्म ७८८ ख्रीष्टाब्द के लगभग मलाबार प्रान्त के कालटी नामक ग्राम मे एक अत्यन्त प्रतिष्ठित नाम्बूरी ब्राह्मण कुल मे हुआ था। कालटी ग्राम पूर्ण-नदी-तटस्थ पार्वत्य प्रदेश मे स्थित था और यहां विशेष कर ब्राह्मणों की ही बस्ती थी। शकर के पितामह पण्डित विद्याधर बड़े ही कर्मनिष्ठ, सदाचारी

और अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर केरल के महाराज ने उन्हें एक मन्दिर का प्रधानाध्यक्ष बना दिया था। वे अत्यन्त सरल साधु स्वभाव, उदारहृदय और शिव के अनन्य उपासक थे। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी सांसारिक विषयों में इनकी आसक्ति न थी। उन के एक पुत्र था जिसे भगवान् शंकर का प्रसाद समझ कर उन्होंने उसका नाम शिवगुरु रख दिया था। यही शिवगुरु शंकर के पिता थे।

शिवगुरु बड़े ही प्रतिभाशाली और बुद्धिमान् थे। अल्पकाल में ही इन्होंने समस्त वेदवेदाङ्ग और शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर लिया था इनकी विलक्षण बुद्धि और मेधा-शक्ति से प्रसन्न होकर इनके गुरु ने भी इन्हें विशेष मनोयोगपूर्वक विद्या वितरण की थी। शिक्षा समाप्त होने पर गुरु ने इन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर माता पिता और कुटुम्बी जनों को प्रसन्न करने का आदेश दिया। परन्तु ये प्रारम्भ से ही संसार से विरक्त और उदासीन रहा करते थे। अतः गुरु से नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि "भगवन्! मेरी अभिलाषा तो यावज्जीवन आपकी सेवा में रहकर तत्व-ज्ञान का अनुशीलन करने की है। आपकी शिक्षा के प्रभाव से संसार से मेरी मोह-ममता हट गई है, अतः गृहस्थ में प्रवेश कर शरीर और मनको कलुषित करने की मेरी इच्छा अब नही होती"। शिष्य की यह बात सुन गुरु प्रसन्न हुए परन्तु फिर कुछ विचार कर इस प्रकार समझाने लगे। "वत्स! तुम्हारा अभी सन्यास ग्रहण करने का समय नहीं आया। जब तक मनुस्य गृहस्थ बनकर

देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण इन तीनों से उन्मुक्त नहीं होता तब तक मानव जीवन के ध्येय की पूर्ति नहीं होती। अतः जाओ और गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर अपने माता पिता और आत्मीय जनों को प्रसन्न करो। कदाचित् निकट भविष्य में तुम्हारे द्वारा संसार का कोई महान् कार्य सिद्ध होने वाला है।" गुरु की यह बात सुन कर शिवगुरु घर लौट आये और माता पिता के पास रहने लगे। कुछ काल के उपरान्त पमघनाम के एक ब्राह्मण पण्डित की सुशीला और विदुषी कन्या कामाक्षादेवी के साथ इनका विवाह होगया।

विवाहानन्तर दाम्पत्य प्रेम से परितृप्त होकर वे बड़े आनन्द से समय यापन करने लगे। परन्तु अनेक वर्ष बीतने पर भी जब इन के कोई सन्तान न हुई तो पति पत्नी दोनों बड़े दुःखी हुए। एक दिन कामाक्षा देवी ने सन्तानाभाव से अत्यन्त दुःखी होकर पति से प्रार्थना की कि पुत्र-प्राप्ति के निमित्त देवाराधन करें। बुद्धिमती पत्नी की यह बात सुनकर शिवगुरु बड़े ही प्रसन्न हुए और शीघ्र ही कठोर व्रत धारण कर महादेव शिव की आराधना में तत्पर होगये। कुछ समय के पश्चात् भगवान् शङ्कर की कृपा से कामाक्षा देवी गर्भवती हुईं और यथा समय उन्होंने एक पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। शङ्कर की विभूति समझ कर पिता ने इनका नाम भी शङ्कर रख दिया। पीछे ये ही संसार में आचार्य शङ्कर के नाम से विख्यात हुए।

बाल्यावस्था से ही शङ्कर बड़े तेजस्वी, मेधावी और प्रतिभा

सम्पन्न थे। उनके मुख-मण्डल पर एक अपूर्व दैवी आभा झलकती थी जिसे देखकर सभी विस्मित और मुग्ध होजाते थे। यथासमय कुलमर्यादानुसार उपनयन संस्कार से दीक्षित होने पर वे विद्याध्ययन में प्रवृत्त हुए। अपनी विलक्षण प्रतिभा और प्रखर बुद्धि के कारण अल्प समय में ही इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन और मनन कर लिया। कहते हैं कि आठ वर्ष की आयु में ही कठिन से कठिन दर्शनशास्त्रों को समझने और उनकी व्युत्पत्ति करने में इन्होंने अच्छी गति प्राप्त कर ली थी। इनकी असामान्य मेधाशक्ति और नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को देख कर इन के गुरु और सहपाठी भी अत्यन्त आश्चर्य-चकित हो इन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। शीघ्र ही शास्त्र-ज्ञान प्राप्त कर इन्होंने अच्छी ख्याति लाभ करली। सर्वत्र ही इन के पाण्डित्य और विद्वत्ता की चर्चा होने लगी। इसी समय दैवदुर्विपाक से इन के पिता का गोलोकवास हो जाने से इन्हें और इनकी माता कामाक्षा देवी को बड़ा दुःख हुआ। शङ्कर अत्यन्त सरल और साधु स्वभाव के थे। संसार की ओर से इन्हें प्रारम्भ से ही विरक्ति थी। ऐश्वर्य और भोगविलास में रुचि न होने से इस ओर वे कभी प्रवृत्त न हुए। पिता की मृत्यु से उनका विरक्तिभाव और भी दृढ़ होगया। संसार की असारता और क्षणभंगुरता ने इनके चित्त पर बड़ा प्रभाव डाला। महात्मा बुद्ध की भांति ये भी किसी निर्जन व एकान्त स्थान में बैठकर अत्यन्त चिन्ताशील हो अनेक गम्भीर और उच्च तत्वों को

खोज में मग्न होजाते थे और कभी २ तो तत्वचिन्ता में इतने लीन हो जाते कि अपनी स्नेहमयी जननी का भी इन्हें स्मरण न रहता था।

एक दिन की बात है कि सायङ्काल के समय किसी सन्यासी से शङ्कर की भेंट हो गई। सन्यासी इनके असामान्य तेज को देखकर बड़ा प्रभावित हुआ और उसने इन्हें कोई दिव्य असाधारण बालक समझ कर इनसे पूछा कि 'तुम कौन हो' ? शङ्कर ने मन्द हास्य से उत्तर दिया 'मै नही जानता।' सन्यासी ने उन के मनोभाव को समझ कर फिर पूछा कि 'क्या वास्तव में तुम नही जानते कि तुम कौन हो।' शङ्कर ने फिर वही उत्तर दिया और विनम्र होकर प्रार्थना करने लगे कि 'महात्मन्! कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे मै जान सकूँ कि मै कौन हूं।' सन्यासो बोला—'यही तो जीवन का वास्तविक तत्व है। पर संसार मे रह कर यह नहीं जाना जासकता।' यह सुनकर शङ्कर ने कुछ गम्भीर होकर दृढ़तापूर्वक कहा—'महात्मन्! वह तत्व तो आपके अन्त.करण में ही वर्तमान है। उसकी खोज के लिये कही अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही। आत्म-चिन्तन और आत्म-दर्शन से ही उसकी उपलब्धि हो सकती है।' शकर की यह मर्मयुक्त गूढ़ वाणी सुनकर साधु वड़े विस्मित हुए और आशीर्वाद देकर वहां से जाने लगे। शङ्कर ने उनका पीछा किया और उनकी कुटी मे पहुँचकर उनसे सन्यास की दीक्षा देने के लिये प्रार्थना की। साधु ने अत्यन्त स्नेह के साथ कहा—वत्स! अभी

आदर्श-चरितावली

लेखक व प्रकाशक
पं० रामधन शर्मा शास्त्री, एम० ए०,
एम० ओ० एल०, सा० आचार्य,
प्रोफेसर—कमर्शल कालेज, दिल्ली।

प्रथमावृत्ति } सन १९३७ { मूल्य १)
१३००प्रति }

* प्राक्कथन *

चरित्र-निर्माण शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है। चरित्र-निर्माण से हमारा अभिप्राय किसी व्यक्ति में उन सद्गुणों के संवर्द्धन और विकास से है जिनके द्वारा वह एक उत्तम और सुयोग्य नागरिक बनकर अपनी व्यक्तिगत उन्नति के साथ साथ अपने समाज ौर देश के अभ्युत्थान तथा उत्कर्ष में भी पूर्णरूप से सहयोग ने में समर्थ हो सके। शारीरिक स्वास्थ्य, बुद्धि का परिष्कार, रता, धीरता, साहस, परोपकार, दया, दाक्षिण्य, कर्मण्यता आदि भी गुणों का चरित्र से सम्बन्ध है; अतः मानवजीवन की र्थकता इसी मे है कि इन सद्गुणों की प्राप्ति के निमित्त निरन्तर त्न करते हुए मनुष्य अपने चरित्र-बल को अधिक दृढ़ करे। ुष्य स्वभावतः ही एक अनुकरणशील व्यक्ति है। वह दूसरों ो जैसा करते हुए देखता है स्वयं भी वैसा ही करने लगता है। सुकुमार तथा कोमलमति बालकों मे तो अनुकरण की यह प्रवृत्ति विशेषरूप से पाई जाती है। अत उनके सामने ऐसे आदर्श उपस्थित करना परम आवश्यक है जिन से उपर्युक्त सद्गुणों की प्राप्ति मे उन्हें सहायता मिल सके। कोरे उपदेशात्मक वाक्यों की अपेक्षा आदर्श उदाहरण ही इस ध्येय की प्राप्ति मे अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीतामे कहा है—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" (गीता ३—२१)

अर्थात् श्रेष्ठ महापुरुष जैसा आचरण करते हैं अन्य साधारण जन भी वैसा ही करने लगते हैं। उन महापुरुषों के द्वारा स्थापित आदर्श ही उनका पथप्रदर्शक होता है। इसी उद्देश्य को ध्यान मे लक्षित कर प्रस्तुत पुस्तक का निर्माण किया गया है। इसमें संसार-प्रसिद्ध कुछ आदर्श महापुरुषों की जीवनियां दी गई हैं। जीवनोपयोगी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और वैज्ञानिक सभी बातों से सम्बन्ध रखने वाले आदर्श महापुरुषों का इसमें उल्लेख है। इन जीवनियों की एक विशेषता यह है कि बीच २ में स्थान २ पर कुछ उपदेशात्मक वाक्यों का समावेश कर दिया गया है जिनसे पढ़ने वालों पर तुरन्त उसका प्रभाव पड़ सके।

हमारा अपना विचार है कि संस्कृत के बिना हिन्दी उ[illegible] कोटि की साहित्यिक भाषा कदापि नहीं बन सकती। इसी कारण पुस्तक की भाषा यथासम्भव विशुद्ध हिन्दी अर्थात् संस्कृत-प्रचुर रक्खी गई है पर साथ ही संस्कृत के उन्ही शब्दों के प्रयोग करने का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है जिनका हिन्दी मे बहुलता से प्रचार है अथवा जिनसे उसके कोप की समृद्धि हो सके। पाठकों की सुविधा के लिये कुछ कठिन शब्दों के अर्थ पुस्तक के अन्त में दे दिये गये हैं। आशा है पाठकों विशेषकर विद्यार्थियों के चरित्र-सङ्गठन मे यह "आदर्श चरितावली" एक आदर्श का काम करेगी।

४१८, कटड़ा नील,
दिल्ली, सितम्बर १६३७।

विनीत—लेखक

विषय-सूची

१—योगिराज श्रीकृष्ण

इहलोक तथा परलोक में मनुष्य की सारी प्रवृत्ति सुख के लिये है। धर्म, अर्थ और काम का इसके अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं। पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इस सुख-प्राप्ति का एक मात्र उपाय सत्य का अनुशीलन और तत्व-ज्ञान की प्राप्ति है और तत्वज्ञान की प्राप्ति का मूलहेतु धर्मसाधन है। धर्मानुकूल आचरण करने से मनुष्य समस्त सांसारिक यंत्रणाओं से परित्राण पाकर इस जीवन में ही देवत्व लाभ कर सकता है किन्तु इसके अभाव में वह पशुत्व में परिणत हो जाता है। अतः धर्मसाधन ही मानव जीवन का परम पवित्र और वास्तविक ध्येय है। परन्तु धर्म क्या है इस सम्बन्ध में लोगों में अनेक भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। वास्तव में आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन में सामञ्जस्य उपस्थित करना और इसके लिये अपेक्षित व आवश्यक नीति-नियमों तथा सिद्धान्तों का पालन एवं तदनुकूल आचरण करना ही धर्म कहाता है। केवल भौतिक अथवा केवल आध्यात्मिक उन्नति से धर्म के एक ही अङ्ग की पूर्ति होती है। अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों ही की प्राप्ति का अनुगमन पूर्ण धर्म है। मनुष्य अपनी मान-

सिक और ऐन्द्रिय दुर्बलताओं के कारण सांसारिक विषय वासनाओं में लिप्त होकर जब आध्यात्मिक नियमों और सिद्धान्तः की अवहेलना करने लगता है तभी समाज में अव्यवस्था और उच्छृङ्खलता उत्पन्न हो जाती है और विलासिता दुराचार एवं अमानुषी अत्याचार का प्रसार होने लगता है। इसी सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने के लिये महापुरुषों का आविर्भाव होता है। वे अपने सदुपदेश और सदाचरण द्वारा कदाचार और कुनीति को हटाकर सद्धर्म और सुनीति की स्थापना करते हैं और इस प्रकार मानव समाज का कल्याण साधन कर परम यश के भागी होते हैं।

संसार में ऐसे जितने भी आदर्श महापुरुष हुए हैं उन में से अधिकांश को जन्म देने का श्रेय भारतवर्ष को है। यहां सब प्रकार के एक से एक बढ़कर महात्माओं का आविर्भाव हुआ है किन्तु इन सब में भी भगवान् श्रीकृष्ण का स्थान सब से ऊँचा है। श्रीकृष्ण का चरित्र अनुपम और लोकोत्तर है। हिन्दू लोग उन्हें ईश्वर का अवतार मानकर उनकी उपासना करते हैं। अवतार न मानने वाले भी उन्हें आदर्श कर्मयोगी और सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। इसका कारण यह है कि उनका चरित्र सर्वाङ्गपूर्ण है। मानव जीवन को सफल बनाने के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है श्रीकृष्ण चरित्र में वे सब पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। उन जैसा धुरन्धर नीतिवेत्ता, ज्ञानी और आदर्श कर्मयोगी मानव जाति के इतिहास में

दूसरा नहीं मिल सकता। विद्या, बुद्धि, बल तथा सदाचरण सभी में वे अद्वितीय थे। निष्काम कर्म का उपदेश कर आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन में सामञ्जस्य उपस्थित करने का जो निराला मार्ग उन्होंने प्रदर्शित किया है वह आज भी सर्वमान्य और अनुपम है। उनका यह उपदेश आलस्य और विलासिता में डूबते हुए मनुष्यों की आत्मा में नया जीवन, नई स्फूर्ति उत्पन्न करने वाला है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम उसके तत्व को हृदयङ्गम नहीं करते प्रत्युत अनेक मूर्ख लोग तो इस महापुरुष के चरित्र पर नाना प्रकार के लाञ्छन लगाकर अपनी अज्ञता का परिचय देते हैं। कृष्ण-चरित्र कितना पवित्र कितना उच्च और महान् है इसका उन्हें तनिक भी ज्ञान नहीं है। भगवान् कृष्ण ने अपने समय में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों और दोषों को दूर करने के लिये धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्रान्ति उत्पन्न करदी थी और वास्तविक धर्म का उपदेश कर समस्त देश में धर्मराज्य की स्थापना की तथा मनुष्यों को मानव जीवन के सच्चे उद्देश्य का पाठ पढ़ाया था। यदि उनके चरित्र के रहस्य का सम्यक् अनुशीलन कर तदनुकूल आचरण किया जाय और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग व उपदेशों को ग्रहण कर उनके अनुसार चला जाय तो मनुष्य समस्त विघ्न बाधाओं और सङ्कटों से मुक्त होकर अपने जीवन को सार्थक बना सकता है एवं परम तत्व का लाभ कर निरतिशय आनन्द व परम सुख का भागी बन सकता है।

अब से पांच सहस्र वर्ष पूर्व की बात है जब भारतवर्ष ऐहिक उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। प्रजा धनधान्य से पूर्ण और समृद्ध थी किन्तु फिर भी उसमें सुख और शान्ति का अभाव था। इसका कारण स्पष्ट रूप से यह था कि लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूल गये थे। विलास और आनन्द को ही सुख की सीमा मान बैठे थे। स्वार्थ साधन ही उनके जीवन का लक्ष्य बना हुआ था। देश अनेक छोटे २ स्वतन्त्र राज्यों में बंटा हुआ था। यद्यपि ये सभी राज्य धन, बल तथा विद्या से परिपूर्ण थे तथापि इनमें पारस्परिक ऐक्य और विश्वास का अभाव था। अहङ्कार और औद्धत्य का प्राबल्य था जिसके कारण एक राज्य दूसरे से लड़ा मरता था। सार्वभौम सत्ता के अभाव में प्रजा की रक्षा और देश की भलाई सम्भव नहीं थी। राजाओं के चरित्र भ्रष्ट हो गए थे। किसी को अपने बल का गर्व और लोभ था तो कोई विलासी और दुराचारी था। कहीं अत्याचार से प्रजा पीड़ित थी तो कहीं अन्तःकलह की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। इस प्रकार राज्य-सूत्र अधर्मी राजाओं के हाथ में होने से अधर्म का प्रचार हो रहा था। धर्मपरायण पुरुषों और साधु महात्माओं के हृदय में संसार की ओर से विरक्ति के भाव उत्पन्न हो गये थे। सन्यास की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी। अतः भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति में समन्वय की भावना नष्ट होकर उनमें पार्थक्य भाव का उदय हो गया था। मनुष्य मात्र अपने कर्त्तव्य व आदर्श को भूला जारहा था। ऐसे

ही समय में भगवान् कृष्ण ने जन्म लेकर अपने सदाचरण और उपदेश द्वारा पुनः धर्मराज्य की स्थापना की और सच्चे मार्ग का प्रदर्शन कर पतनोन्मुख हिन्दू जाति का पुनरुद्धार किया।

भगवान् कृष्ण का जन्म परमपावन मथुरापुरी में भाद्रपद कृष्णाष्टमी को अर्द्धरात्रि के समय हुआ था। उस समय मथुरा में कंस नाम का राजा राज्य करता था। यह बड़ा ही दुराचारी, विलासी और अभिमानी था तथा प्रजा पर असह्य अत्याचार करता था। उसने अपने पिता उग्रसेन को बन्दी कर राज्य प्राप्त किया था और अपने बहनोई व बहिन वसुदेव और देवकी को भी कारागार में डाल दिया था। यही वसुदेव देवकी कृष्ण के माता पिता थे। कंस ने वसुदेव के छः बच्चों को मार डाला था। ईश्वर की माया से कृष्ण के जन्म के समय पहरेदारों की असावधानी से कारागार का द्वार खुला रहा. अतः वसुदेव कंस के भय से रातों-रात बालक कृष्ण को गोकुल में अपने मित्र नन्द और उनकी पत्नी यशोदाके यहां पहुँचा आये। नन्द और यशोदा ने बड़े प्रेम और यत्न से उनका लालन-पालन किया। बालकृष्ण रूपी सूर्य की प्रथम रश्मि ही पापात्माओं के हृदयान्धकार को पार कर गई। सज्जनों की सुख-पताका फहराने लगी। महात्माओं में मंगल मनने लगे। दुष्ट, अत्याचारी, अन्यायियों को कुशकुन, अमङ्गल और भय होने लगा। बालक कृष्ण ग्वाल बालों की टोली लिए जङ्गल में मङ्गल मनाते, स्वच्छन्द और निर्भय होकर विचरण करने लगे। स्वच्छ और निर्मल वायु में भ्रमण, नित्य

नई नई क्रीड़ाओं और व्यायाम का अभ्यास, शुद्ध दुग्ध, माखन और मिश्री का सेवन करने से उनका शरीर असाधारण हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर और बलिष्ठ बन गया था। इसी बल के प्रताप से बाल्य-काल में ही कृष्ण ने अनेक दुष्ट और अत्याचारियों का वध किया।

कंस को जब कृष्ण के इन असाधारण कार्यों का पता लगा तो वह बड़ा भयभीत हुआ और उसने उनका वध कराने के लिये नाना प्रकार के षड्यन्त्र रचे। पूतना राक्षसी, केशी, बकासुर और शकटासुर आदि भयङ्कर राक्षसों के द्वारा गुप्तरूप से उन्हें मार डालने का प्रयत्न किया किन्तु कृष्ण में जन्म से ही दैवी शक्ति और विचित्रता थी। कारागार का द्वार खुला रह जाना, पहरेदारों का इस प्रकार असावधान होकर सो जाना, अँधेरी रात्रि में इस प्रकार वसुदेव का यमुना पार करके सुरक्षित रूप से नन्द के यहां कृष्ण को पहुँचा आना आदि सभी अद्भुत लीलायें हैं। महान आत्माओं की शक्ति, पवित्रता का प्रकाश और परमार्थ का पुण्य धर्म के विशाल पर्वतों से निकल कर स्वयं ही अपना मार्ग बनाता हुआ स्वच्छन्द गति से चलता है। सज्जन इस सुख-सरिता में स्नान कर पवित्र हो जाते हैं और दुर्जन दुरात्माये इसकी अटल गति को रोकने के प्रयत्न में घुलघुल कर किनारे के वृक्षों की भांति नष्ट हो जाती हैं। कंस के सभी प्रयत्न विफल हुए और जिस प्रकार पतंगे जलती ज्वाला में गिरकर भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार कंस के भेजे हुए सभी राक्षस कृष्ण के बल और

तेज से नष्ट हो गए। मातृभूमि का प्रेम कृष्ण की रगरग में भरा हुआ था। बाल्यावस्था में ही खेल ही खेल में इस प्रकार राक्षसों का वध, कालियनाग का दमन और इन्द्र के प्रकोप से व्रज की रक्षा कर उन्होंने वृन्दावन को निष्कण्टक बना दिया था, और बंसी की मधुर ध्वनि से गोप गोपिकाओं को रिझाकर वृन्दावन की लीलाभूमि को सुखधाम बना दिया था।

इसके अनन्तर कंस ने कृष्ण को मार डालने के लिये एक और षड्यंत्र रचा। एक अखाड़े की योजना करके कृष्ण को मल्लयुद्ध के लिये मथुरा में बुलाया और मुष्टिक व चाणूर नाम के दो प्रसिद्ध पहलवानों से उन्हें भिड़ा दिया। कृष्ण और बलराम दोनों ने इन मल्लों को सहज में ही पछाड़ कर उन्हें स्वर्गधाम पहुँचा दिया। तदनन्तर कृष्ण ने अभिमानी और क्रूर कंस की चोटी पकड़ कर नीचे गिरा दिया और उसकी छाती पर चढ़ कर उसे भी गला घोंट यमपुर भेज दिया तथा उसके पिता उग्रसेन को कारा-गार से मुक्त कर मथुरा के राजसिंहासन पर बिठा दिया।

दुराचारी कंस के बध का समाचार सुनकर इस राज्य-क्रान्ति से भारत के सभी राजा लोग कृष्ण से डरने लगे। कंस के श्वसुर मगध के बली राजा जरासंध ने एक बड़ी सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई कर दी और उसे चारों ओर से घेर लिया। रक्तपात को बचाने के हेतु से भगवान् कृष्ण मथुरा छोड़कर चले गये परन्तु जरासंध ने उनका पीछा किया। अतः गोमन्त पर्वत पर युद्ध हुआ और कृष्ण ने अपने अद्भुत पराक्रम द्वारा जरासंध

की विशाल सेना का संहार कर उसे पराजित किया। राजनीति निपुण कृष्ण ने अपने कौशल और पराक्रम से अनेकों अत्याचारी राजाओं का दमन किया परन्तु राज्य किसी का नहीं छीना। अभिमान और दम्भ आपको छुवा तक नही था। इतने वीर और प्रतिभाशाली होते हुए भी आप उसी ग्वाल वेश में रहकर सरल जीवन व्यतीत करते थे। उनकी वह मनोमोहिनी मूर्ति शोभा को भी शोभा देने वाली थी।

अब तक कृष्ण को विद्याध्ययन करने का अवकाश ही नहीं मिला था। कंस के मारे जाने पर उनका कण्टक दूर हुआ और तभी क्षत्रियोचित संस्कार होने के पश्चात् उन्हें सन्दीपन्न मुनि के आश्रम में विद्याध्ययन के निमित्त भेजा गया। अपनी प्रखर बुद्धि और विलक्षण युक्ति के बल से वे अल्पकाल में ही चारों वेद, छहों अङ्ग, उपनिषद्, आदि सभी विषयों में पारङ्गत हो गये। अश्व और गजशास्त्र तथा अस्त्रविद्या और दशाङ्ग सहित धनुर्वेद की शिक्षा में भी वे पूर्ण निपुण हो गये।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि उस समय भारतवर्ष छोटे २ राज्यों में विभक्त था जिनमे निरन्तर परस्पर लड़ाई झगड़े होते रहते थे। कृष्ण की इच्छा थी कि इन सभी राज्यों को सङ्गठित कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की जाये। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की सम्मति दी। यद्यपि उस समय भारत में बड़े बड़े बलशाली राजाओ की कमी नही थी। युधिष्ठिर से भी अधिक शक्तिसम्पन्न

तेजस्वी और प्रतिभापूर्ण राजा थे परन्तु धर्मधुरन्धर, दयावान्, न्यायपूर्ण और सत्यवादी धर्मराज युधिष्ठिर के समान और कोई नहीं था। शुद्ध और पवित्र महान् आत्माये सदैव धर्म का ही पक्ष लेती हैं। अस्तु नीतिज्ञ कृष्ण ने युधिष्ठिर को ही चक्रवर्ती राजा बनाने का निश्चय किया। राजसूय एक महान् पुण्य कर्म था इसीसे भारत के समस्त राजे महाराजे इसमें सम्मिलित हुये थे। सब से पहिले किस की पूजा की जाय यह प्रश्न उपस्थित होते ही युधिष्ठिर ने ज्ञान, पराक्रम और वयोवृद्ध पितामह भीष्म से इसका निश्चय करने की प्रार्थना की। भीष्म ने प्रस्ताव किया कि "यह जो सब राजाओं के तेज, बल और पराक्रम का अभिमान करते हुये नक्षत्रों मे सूर्य के समान तेजस्वी हैं उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण का पूजन करना चाहिये। इनके बिना इस सभा की वह दशा हो जावेगी जो सूर्य और वायु के बिना संसार की हो सकती है। इससे प्रत्यक्ष है कि कृष्ण को उनके समकालीन बड़े से बड़े महापुरुष भी पुरुषोत्तम, यती और परमात्मा समझते थे एवं उनकी अलौकिक शक्तियों मे विश्वास रखते थे। संसार में सभी प्रकार के मनुष्य रहते हैं। जहां भगवान कृष्ण के इतने उपासक थे वहां उनकी बुआ का लड़का शिशुपाल जैसे उनका विरोध करने वाले भी उपस्थित थे। शिशुपाल बड़ा ही बलवान और प्रतापी राजा था किन्तु साथ ही वह अत्यन्त क्रूर और अत्याचारी भी था। उसे कृष्ण का यह सम्मान सह्य न हुआ। अतः भरी सभा में उस

ने भीष्म के इस प्रस्ताव का विरोध किया और कृष्ण को अनेक अपशब्द कह कर लाञ्छित करने लगा। इसका कारण कृष्ण की राज्य-क्रान्ति, सामाजिक सुधार और धर्मप्रियता ही थी। कृष्ण का स्वभाव कितना निर्मल था, उनका आचरण कितना पवित्र था, शिशुपाल वह भली भांति जानता था। इसी कारण उसने कृष्ण के चरित्र पर कोई आक्षेप न कर अन्य प्रकार से कहने न कहने की अनेक बातें कहकर निन्दा की। भगवान् कृष्ण बड़े सहनशील, वीर और गम्भीर थे। यदि वे चाहते तो संकेत मात्र से भीम अथवा अर्जुन द्वारा शिशुपाल का काम तमास करा देते। परन्तु जब तक सारी सभा उत्तेजित न हो गई और सबने ही शिशुपाल को दण्ड देने का निश्चय नही किया, प्रजातन्त्रवादी कृष्ण उसकी गालियां सुनते ही रहे। अन्त में सब की सम्मति देख कर और यह विचार कर कि "जो नहिं दण्ड करौ खल तोरा, भ्रष्ट होय श्रुति मारग मोरा।" कृष्ण ने बात की बात में चक्र द्वारा उसका मस्तक धड़ से अलग कर दिया।

इस राजसूय यज्ञ की योजना से कृष्ण ने और भी सभी दुष्ट राजाओं का दमन करा दिया। दिग्विजय के बीच में भीम के द्वारा मल्ल युद्ध में जरासन्ध का वध करा कर उन्होंने उसके कारागार में पड़े हुए अनेकों राजाओं और सोलह सहस्र रानियों को भी मुक्त कराया। इससे सर्वत्र कृष्ण के बल और वीर्य की ख्याति फैल गई।

राजसूय यज्ञ के समय में ही कृष्ण को यह समाचार मिला कि कई धर्मविरोधी,स्वार्थी और एकतंत्रवादी राजाओं ने द्वारिका को घेर लिया है। अतः यज्ञ समाप्त होने पर वे तुरन्त द्वारिका चले गये और वहां उन्होंने उन राजाओं को पराजित कर उसकी रक्षा की। इधर कौरव गण पाण्डवों की इस बढ़ती हुई शक्तिको सहन न कर सके। उन्होंने षड्यन्त्र द्वारा युधिष्ठिर को जुए में हरा कर उनका सारा राजपाट छीन लिया और उन्हें १३ वर्ष का बनवास देदिया। अवधि समाप्त होने पर जब पाण्डवों ने अपना राज्य वापिस मांगा तब राज्य तो दूर कौरवों ने पांच गांव भी उनके रहने को नहीं दिये। विरोध बढ़ता ही गया। भगवान् कृष्ण को भला कब चैन पड़ सकता था। जन्म से ही वे तो दुष्टों का दमन करते आये थे। दुष्कृतियों के नाश करने के निमित्त ही वे अवतरित हुए थे। पहिले तो उन्होंने कौरवों और पाण्डवों को समझा कर इस विरोध को शान्त करने के प्रयत्न किए, पर बहुत समझाने पर भी जब कौरवों ने किसी भी प्रकार सन्धि करना स्वीकार न किया तब अधर्मी, दुराचारी और आततायियों के दमन द्वारा भूभारहरण के हेतु उन्होंने महाभारत का रोकना उचित नहीं समझा। युद्ध की घोषणा कर दी गई और भगवान् कृष्ण ने स्वयं धर्म, नीति और मर्यादा की रक्षा के निमित्त पाण्डवों का पक्ष लिया, किन्तु युद्ध में उन्होंने स्वयं शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा कर अर्जुन का केवल सारथि बनना ही स्वीकार किया। इतना ही नहीं ... शत्रु पक्ष में अपने ही आचार्य, पितामह, मामा आदि संबन्धियों

देख कर जब अर्जुन को मोह हो गया और उन्होंने युद्ध न करने की इच्छा प्रकट कर गाण्डीव को छोड़ दिया तब उसकी इस अकर्मण्यता और कायरता को दूर करने के लिए भगवान् कृष्ण ने युद्ध भूमि में ही उसे गीता का वह दिव्य उपदेश दिया जिससे आज भी भारतभूमि समस्त भूमण्डल में अपना मस्तक ऊँचा उठाये हुए है।

भगवान् कृष्ण को हुए यद्यपि सहस्रों वर्ष हो गये परन्तु आज तक किसी भी देश, काल अथवा भाषा में गीता के जैसे विचार न आये है और न आ सकते हैं। गीता में भगवान् कृष्ण के पवित्र, निर्मल और योगयुक्त अलौकिक चरित्र का प्रत्यक्ष आभास मिलता है। कर्म, भक्ति और ज्ञान के पुष्पों से गूंथकर भगवान् ने भारतमाता के कण्ठ में यह कभी न मुरझाने वाली माला डाल दी है। सहस्रों मनुष्यों की पथ-प्रदर्शक, सर्वमान्य, और क्षुब्ध अन्तः करण को शान्ति प्रदान करने वाली भगवान् कृष्ण की यह गीता संसार-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। इस अद्वितीय उपदेश का भारत को अभिमान है और युगयुगान्तर में भी कृष्ण और उनकी गीता का नाम स्वर्णाक्षरों में अङ्कित रहेगा।

कृष्ण का पुण्यमय चरित्र आदि से अन्त तक कर्मशील रहा है। अपने इसी आदर्श को उन्होंने गीता में कर्मयोग का स्थान दिया है। मनुष्य को फलाशा छोड़ कर निरन्तर कर्म करते रहना चाहिये और अकर्मण्य बनकर कभी हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहना चाहिये, यही कर्मयोग है। साथ ही अपने समस्त कर्मों के

पाप पुण्यमय दोषों से निवृत्ति पाने के लिये उन्हें ईश्वरार्पण कर देना ही भक्ति योग है। ज्ञान, सन्यास के द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् को जान लेना ही ज्ञानयोग है। इन्हीं तीनों योगों को प्राप्त कर लेने से मनुष्य सर्वसामर्थ्यवान् हो सकता है। इसी योग की सामर्थ्य से कृष्ण ने अनेकानेक अद्भुत लीलायें की थीं। उनके चरित्र पर अल्पज्ञ भांति भाँति की शङ्कायें करते हैं परन्तु उनके गूढ, आध्यात्मिक रहस्य को अच्छी तरह समझने के पश्चात् किसी को भी उस लीलाधर नटवर के विचित्र चरित्रों में लेशमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। आत्मज्ञान, विज्ञान, तपोवल एवं चरित्र की इस अनुपम पवित्रता से ही भगवान् ने अभिमन्यु के मृत पुत्र परीक्षित को जीवदान दिया था। उस समय उन्होंने और किसी ईश्वरीय शक्ति का सहारा न लेकर केवल अपने चरित्र को ही साक्षी करके इस प्रकार कहा था—

"यथा सत्यञ्च धर्मञ्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतामभिमन्युजः॥"

अर्थात् 'यदि मुझ मे सत्य और धर्म की वरावर प्रतिष्ठा है तो अभिमन्यु का यह मृत पुत्र जीवित हो उठे।' तप और तेज की शक्ति से क्या नहीं हो सकता? परन्तु भगवान् का सम्पूर्ण जीवन ही आश्चर्यमय है।

कृष्ण इतने निष्पक्ष और धर्मधुरीण थे कि अपने कुटुम्बियों को भी वे अत्याचारी और अन्यायी होते नहीं देख सकते थे। इसी कारण अन्तःकलह की अग्नि प्रज्वलित कर उन्होंने यादवों

को भी समूल नष्ट करा दिया। इन्हीं सब बातों को देखकर उन्हें प्रकृति का वशवर्ती जीव नहीं अपितु उसका अधिष्ठाता मानते हैं। धर्म की रक्षा के लिये ही उन्होंने इस धराधाम पर अवतार धारण किया था जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"

'जब जब धर्म की हानि और अधर्म का प्रसार होता है तब तब मैं जन्म धारण करता हूँ।'

२—महात्मा बुद्ध

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का प्रसार होता है, तब तब मैं धर्म की पुनः स्थापना और अधर्म-नाश के निमित्त किसी विशिष्ट आत्मा के रूप में जन्म धारण करता हूं। उसी को हम अवतार कहते हैं—भगवान् की विशिष्ट विभूति समझते हैं। अवतार रूप में आविर्भूत होकर अनेक महापुरुष अनेक महान् कार्य साधन करते हैं किन्तु उन सब में धर्म रक्षा सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि संसार की स्थिति का आधार एक मात्र धर्म ही है। स्वयं भगवान् कृष्ण का जन्म भी इसी उद्देश्य को लक्षित कर हुआ था। जब धर्म का ह्रास होने लगता है और सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाती है तो भगवान् का आसन डोलने लगता है और तब वे उसकी रक्षा के हेतु अपनी विशिष्ट विभूति को जन्म देकर जगत् का परित्राण करते हैं।

महाभारत युद्ध के पश्चात् बहुत समय तक भारतवर्ष की दशा बिगड़ती ही चली गई यहां तक कि ईसा संवत् के प्रारम्भ होने से लगभग ६०० वर्ष पूर्व यहां धर्म की मर्यादा अत्यन्त क्षीण हो

गई थी। प्रभावशाली राजाओं का प्रायः अभाव ही था। क्षात्र तेज का नाश हो चुका था। सर्वत्र अराजकता के विचार फैल रहे थे। धार्मिक और नैतिक नेताओं के अभाव से प्रजा मन-माना आचरण करने लगी थी। वैदिक आर्यों की प्राचीन सभ्यता जिसे ऋषियों ने वैदिक काल के प्रारम्भ में स्थापन किया था अनार्यों के संसर्ग से दूषित हो गई थी। भारतवासी वेद और धर्म मार्ग का परित्याग कर विपथगामी हो रहे थे। ब्राह्मण पुरोहितों ने भी अपना स्वरूप भुला दिया था। शुद्ध वैदिक अध्यात्मवाद का स्थान कर्मकाण्ड ने ले लिया था। तपोधन ऋषियों की सन्तानों को दक्षिणा के लोभ ने इतना आ घेरा था कि उन्होंने यज्ञ कराना ही अपना परम कर्तव्य समझ रक्खा था। यज्ञ के बहाने खुल कर हिंसा की जाती थी। यज्ञ में मारे जाने से स्वर्ग मिलता है--इस बात को वे शास्त्रीय प्रमाणों से प्रमाणित कर हिंसा को प्रधान धर्म मानते थे। दयाधर्म का सर्वथा लोप हो गया था। यज्ञ में बध किये जाने वाले दुर्बल पशुओं की चीत्कार से भारत का घर घर गूँजने लगा था पर किसी भी मानव नामधारी व्यक्ति के हृदय में दया भाव का सञ्चार न होता था। ऐसे समय में इस कदाचार की ओर करुणावरुणालय स्वयं भगवान् का ध्यान आकृष्ट हुआ और उसी के फल स्वरूप महात्मा बुद्ध देव का आविर्भाव हुआ।

महात्मा बुद्ध देव के जन्म और निर्वाण काल के सम्बन्ध में यद्यपि विद्वानों में मत भेद हैं तथापि अनेक विद्वानों का

मत है कि उनका जन्म ईसा से ५५७ वर्ष पूर्व और निर्वाण ४७७ वर्ष पूर्व हुआ था। प्राचीन काल में हिमालय की तराई में अचिरावती और रोहिणी नाम की दो पहाड़ी नदियों के मध्य में कपिलवस्तु नामक एक छोटा सा राज्य था। उसकी राजधानी भी उसी नाम से प्रख्यात थी। यही कपिलवस्तु बुद्ध की जन्मभूमि थी। यहां इक्ष्वाकु वंश की अन्यतम शाखा शाक्य-वंशीय क्षत्रियों का शासन था। महाराज सिंहहनु उनमें एक बड़े प्रतापशाली राजा हो गये हैं। उनके परलोक-गमन पर उनके ज्येष्ठ पुत्र शुद्धोदन सिंहासनारूढ़ हुए। यही महाराज शुद्धोदन बुद्धदेव के पिता थे। ये बड़े ही धर्मनिष्ठ, शान्त-प्रकृति और प्रजावत्सल थे। देवदह के महाराज सुप्रभूत की दो राजकुमारियों मायादेवी और प्रजावतीके साथ इनका पाणिग्रहण हुआ था। कहते हैं कि महाराज शुद्धोदन की अवस्था ४० वर्ष से भी अधिक हो गई थी तब तक उनके कोई सन्तान न थी। सब प्रकार के वैभव और ऐश्वर्य से सम्पन्न होने पर भी सन्तानाभाव के कारण वे सदा दुखी रहते थे। उनके इस दुःख से उनकी सारी प्रजा और बन्धु-बान्धव भी अत्यन्त दुखी थे।

अनेक यज्ञादि करने पर महाराज की ४५ वर्ष की आयु में उनकी पटरानी मायादेवी गर्भवती हुईं। राजपरिवार तथा प्रजा-वर्गने जब यह समाचार पाया तो वे बड़े ही प्रसन्न हुए और अनेक प्रकार के आनन्दोत्सव मनाने लगे। प्रसवकाल से कुछ पूर्व माया-देवी ने पितृगृह जानेकी अभिलाषा प्रगट की। महाराज की आज्ञा-

नुसार इसको समुचित प्रबन्ध कर दिया गया। जाते हुए मार्ग में लुम्बिनी नामक बन में उन्होंने डेरा डाला और यहीं महारानी को प्रसववेदना हुई। यथासमय माघ की पूर्णिमा को उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। महाराजने यह शुभ समाचार पाकर बड़ा उत्सव मनाया। राज-भवन मङ्गल-वाद्यों से मुखरित हो उठा। अनेक दीन दुखियो तथा ब्राह्मणों को नाना प्रकार के दान द्वारा सन्तुष्ट किया गया। अपने मनोरथ के पूर्ण होने पर अत्यन्त हर्षोल्लसित होकर महाराज ने कुमार का नाम सिद्धार्थ रक्खा। पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात् प्रसव-सप्ताह के मध्य में ही मायादेवी का स्वर्गवास होगया। राजा को इससे अत्यन्त शोक हुआ पर सद्योजात सन्तान का मुख देखकर उन्होंने यथाकथञ्चित् धैर्य धारण किया और उसे उसकी मासी प्रजावती उपनाम गौतमी को सौप कर वे उसकी रक्षा और लालन-पालन में तत्पर हो गए। गौतमी के द्वारा पालित पोषित होने के कारण ही सिद्धार्थ का दूसरा नाम गौतम पड़ा।

बाल्यावस्था में ही बुद्ध के प्रशस्त ललाट को देखकर महापुरुष होने का सन्देह होने लगा था। असित नाम के एक बड़े प्रसिद्ध ज्योतिषी ने गणित कर राजा से कहा था—'राजन् आप बड़े भाग्यशाली हैं जो ईश्वर ने आपको ऐसा सर्वलक्षण-संपन्न पुत्र दिया है। इसकी बड़ी सावधानी से रक्षा करनी चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि युवावस्था में यह सन्यास ग्रहण करेगा। कोई भी राजकीय वैभव इसे आकृष्ट न कर सकेगा। पर यदि

किसी प्रकार इसका मन सांसारिक विषयों में लगाकर इसे गृहस्थाश्रम मे प्रवृत्त कराने का प्रयत्न किया जाय तो निश्चय ही यह चक्रवर्ती सम्राट् होगा। असित की बात सुनकर महाराज बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने कुमार को यथासाध्य राजोचित शिक्षा देने का संकल्प किया।

आठ वर्ष की अवस्था में प्रथा के अनुसार उपनयन संस्कार होने पर वे गुरु के यहां पढ़ने को भेज दिये गए। महर्षि विश्वामित्र नामक एक योग्य श्रोत्रिय ब्राह्मण को उनकी शिक्षा का भार सौंपा गया। सिद्धार्थ की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। अल्प काल में ही उन्होंने अनेक शास्त्रों और लिपियों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। आचार्य विश्वामित्र ने अपने शिष्य की प्रखर बुद्धि से अति विस्मित हो उसे दर्शन शास्त्र की शिक्षा दी और सांख्य, न्याय, वेदान्तादि सभी विषय भली भांति पढ़ा दिये। यथा समय पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर कुमार ने विद्याध्ययन समाप्त किया और गुरु की आज्ञा प्राप्त कर घर लौट आये। महाराज शुद्धोदन निखिल-विद्या-निष्णात युवराज को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

बाल्यावस्था से ही बुद्ध अत्यन्त चिन्ताशील, अध्यवसायी और परदुःख-कातरस्वभाव के थे। पूर्ण युवावस्था के प्राप्त होने पर भी उनका मन साधारण राजपुत्रोंकी भांति आमोद प्रमोद और विलास की ओर आकृष्ट न हुआ। वे एकान्तवास के बड़े प्रेमी थे। सुख दुःख की उन्हे कुछ चिन्ता न थी। एकान्त में बैठे वे नित्य संसार के दुःखों का निदान और उनकी निवृत्ति का उपाय सोचा

करते थे। महाराज उनकी यह दशा देखकर मन ही मन बड़े दु:खी होते थे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि कुमार क्षत्रियोचित कार्यों में दत्तचित्त हो। सांसारिक भोगों में आसक्त करने के विचार से उन्होंने सिद्धार्थ के लिये एक नवीन भवन और सुन्दर आराम निर्माण कराया और अनेक प्रकार की उत्तम वस्तुओं तथा भोग-विलास की सामग्रियोंसे उसे सुसज्जित करा दिया। संसार की ओर कुमार का मन खिंच आवे इसके लिये उन्होंने नाना प्रकार के उपाय किये पर फल कुछ न हुआ। अन्त में उन्होंने कुमार को विवाह-बंधन में बांधने का निश्चय किया और अपने पुरोहित को योग्य वधू की खोज करने की आज्ञा दी। राजपुत्रों के लिये कन्याओं की कमी नहीं होती। छानबीन करने पर शीघ्र ही देव-दह के महाराज दण्डपाणि की कन्या गोपा उपनाम यशोधरा के साथ सिद्धार्थ का पाणिग्रहण होगया। गोपा अत्यन्त रूपवती, गुणवती और शीलवती थी। नव वधू के आगमन से परिवार के सभी मनुष्य बड़े प्रसन्न थे परन्तु कुमार के चित्त में किसी प्रकार का परिवर्तन न हुआ। विवाह होने पर भी उनका एकान्तवास न गया। वे नित्य आराम मे बैठे हुए सुख दु:ख और जन्म मरण के प्रश्नों पर विचार करते रहते थे। इस प्रकार दस वर्ष पर्यन्त अनिच्छापूर्वक उन्होंने गृहस्थाश्रम में अवस्थान किया, किन्तु पिता का स्नेह, गुणवती भार्या का प्रेम और राजप्रासाद की विविध विलास सामग्री कुछ भी उनको मुग्ध न कर सकी। उनका हृदय विरक्ति से परिपूर्ण था।

आरामके बाहर वे बहुत कम निकला करते थे। एक दिन उन्होंने बाहर घूमने जानेकी इच्छा प्रकट की। राजाने आज्ञा प्रदान कर इसकी व्यवस्था कर दी। सारा नगर भली प्रकार सुसज्जित किया गया। प्रात काल होते ही रथ में आरूढ़ हो वे नगर भ्रमण के लिये निकल पड़े। घूमते-घामते दोपहर हो गया। सिद्धार्थ की आज्ञा से घर आने के लिये रथ लौटाया गया। लौट कर आते समय मार्ग मे कुमार ने एक वृद्ध को देखा। उसके अंग प्रत्यंग शिथिल हो गए थे। अन्न के बिना शरीर सूख गया था। आंखों की ज्योति क्षीण हो गई थी। वह लाठी के सहारे घूम कर भिक्षा मांग रहा था। उसे देखकर सिद्धार्थ को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपने सारथी छन्दक से पूछा—"यह कौन है? इसकी दशा ऐसी क्यों हो रही है?" छन्दक ने उत्तर दिया—"महाराज यह एक वृद्ध है। वृद्धावस्था के कारण इसकी इन्द्रियां शिथिल हो गई हैं। इसके बन्धुबान्धवों ने इसे त्याग दिया है। अतः भिक्षा द्वारा यह अपना निर्वाह करता है। कुमार ने आज तक जराग्रस्त किसी पुरुष को न देखा था, अतः सारथी का उत्तर सुनकर वे बड़े विस्मित हुए और पूछने लगे। "यह बूढ़ा क्यों हुआ? क्या यह इसका कुल धर्म है अथवा समस्त ससार की यही व्यवस्था है?" छन्दक बोला—"महाराज यह संसार का नियम है। सभी प्राणी जरा द्वारा अभिभूत होते हैं। एक न एक दिन आप, आप के माता-पिता, भाई बन्धु और सभी प्राणी जराग्रस्त होंगे।"

सारथी की बात सुनकर कुमार के मन में बड़ी ग्लानि हुई। मानव-शरीर की होने वाली दुरवस्था का विचार कर उनका अन्तःकरण वैराग्य से पूर्ण हो गया। वे शीघ्र ही लौट कर घर आए और रात दिन यही सोचते रहे कि किस प्रकार इस जरा नामक महाव्याधि का नाश किया जा सकता है। कुछ काल उपरान्त उन्होंने फिर नगर से बाहर जाने का संकल्प किया। अब की बार वे प्रासाद से निकल कर रथ पर बैठे नगर की शोभा देखते जा रहे थे कि अकस्मात् उनकी दृष्टि एक ऐसे मनुष्य पर पड़ी जो किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो अति जीर्ण शीर्ण-काय हो गया था। वह उठने का प्रयत्न करता था पर लड़खड़ा कर गिर पड़ता था और वेदना के कारण कराह रहा था। उसे देखकर सिद्धार्थ के मन मे बड़ी दया आई। उन्होंने सारथि से पूछा—"छन्दक! यह कौन है? इसका गात्र विवर्ण और इन्द्रियां विकल क्यों हो रही हैं?" छन्दक ने उत्तर दिया—'राज कुमार! यह रोगी है। रोग से इसके शरीर का तेज और सौन्दर्य नष्ट हो गया है। यह असहाय होकर यहां पड़ा है।' कुमारने फिर पूछा—'क्या यह रोग मुझे भी हो सकता है?' छन्दक बोला--"कुमार! शरीर रोगों का घर है। कोई शरीर-धारी क्यों न हो उसे रोगाक्रान्त होना ही पड़ता है।" छन्दक की बात सुनकर सिद्धार्थ वहुत दुखी हुए और सोचने लगे--'यदि नीरोगता स्वप्न-क्रीड़ा के तुल्य है तो फिर कौन बुद्धिमान् शारीरिक सुखों के लिए मूर्खतापूर्ण प्रयत्न करेगा।' यही सोचते हुए उन्होंने सारथि

से रथ लौटाने को कहा और घर आकर फिर पूर्व की भांति चिन्तामग्न हो गए।

तीसरी बार वे मन बहलाने के विचार से एक दिन फिर आराम के बाहर निकले तो दैवयोग से उनके उद्बोधन के लिये एक और दृश्य सामने उपस्थित हो गया। कुमार ने देखा कि एक मनुष्य को वस्त्र मे लपेट कर और कन्धे पर रखकर चार आदमी लिये जारहे हैं और कई मनुष्य उनके साथ विलाप करते जारहे हैं। यह देख कर कुमार ने सारथी से पूछा—यह क्या है और ये मनुष्य क्यों रोरहे हैं?" सारथीने उत्तर दिया—'देव! यह शव लिये जारहे हैं। इस मनुष्य के प्राण पखेरू उड गये हैं। अब यह पुन. अपने कुटुम्बियों व जातिवालों को नहीं मिलेगा। इस का मृत शरीर श्मशान में अग्निसात् करदिया जायगा। कुमार ने पूछा " क्या सभी मरते है? छन्दक बोला—" कुमार प्राणियों की मृत्यु निश्चित है। मृत्यु से कोई नहीं बच सकता।" सारथी की बात सुनकर कुमार का हृदय दहल उठा। उन्हे सारा संसार क्षणभंगुर प्रतीत होने लगा। मानवजीवन का तत्व उनकी समझ मे आया। उन्होने छन्दक से कहा—"यदि ऐसी बात है तो जीवन को क्षण भंगुर कहना चाहिये। फिर राज्य की क्या आवश्यकता है? नश्वर पदार्थों से प्रेम करना विद्वान् का काम नही। यौवन, आरोग्य तथा जीवन सबको धिक्कार है क्योंकि इनमे से कुछ भी चिरस्थायी नही हैं और उस पण्डित को भी धिक्कार है जो यह सब जानता हुआ भी विषयों में निरत होता

है। सांसारिक यंत्रणाओं से मुक्ति पाना ही परम धर्म है।"

लौट कर कुमार सिद्धार्थ अपने भवन में गए, पर वहां अब इन्हें आनन्द नही आया। साधारण मनुष्यों और महात्माओं के जीवन मे यही अन्तर है कि साधारण मनुष्य अपने जीवन में सांसारिक घटनाओं को देखता हुआ भी उनसे उपदेश ग्रहण नहीं करता। नित्य ही तरह २ की घटनायें हुआ करती है किन्तु वह उनपर कुछ ध्यान नही देता। पर महात्मा लोग अपने जीवन में समस्त संघटित घटनाओं को बड़े कुतूहल से देखते हैं, उनके कारण का अन्वेषण करते हैं और उनसे शिक्षा ग्रहण करते हैं। सिद्धार्थ भी इसी कोटि के महात्मा थे। उपर्युक्त दृश्यों का उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे दु:खों से छुटकारा पाने का उपाय ढूंढने लगे पर कोई मार्ग निश्चित न कर सके। एक बार उन्होंने काषायवस्त्रधारी एक पुरुष को देखा जो हाथमे कमण्डलुको लिए शान्तचित्त बैठा था। उसका लोकोत्तररूप देखकर कुमार बड़े प्रसन्न हुए और सारथि से पूछने लगे—"यह कौन है?" उसने उत्तर दिया—"देव! यह सन्यासी हैं। संसार को अनित्य समझ कर इन्होंने इसका परित्याग कर दिया है। अब यह अपने पवित्र तथा विनीत आचरण और सदुपदेश द्वारा निरन्तर लोगों का कल्याण किया करते है।" सिद्धार्थ को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई और सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए उन्होने भी संसार-त्याग का निश्चय किया। घर आकर वे गृहस्थ आश्रम को छोड़ संन्यास ग्रहण करने का उपाय ढूंढने लगे।

एक दिन की बात है कि उनके एक सेवक ने उन्हें यशोधरा के पुत्र उत्पन्न होने का समाचार दिया। उसे सुनकर पहले तो कुमार को हर्ष हुआ परन्तु कुछ देर विचारमग्न होने पर उनका मानसिक आह्लाद तिरोभूत हो गया। पुत्रोत्पत्ति राग-बन्धन का हेतु है यह ध्यान आते ही वे अत्यन्त विषादग्रस्त हो गये। कुछ दिन उपरान्त उन्होंने अपने पिता से प्रव्रज्या लेने की अनुमति मांगी पर वह सहमत न हुए। तब कुमार ने कहा कि यदि आप मुझे यह वरदान दें कि मै सदा युवा, नीरोग और अमर बना रहूं और कभी विपन्नावस्था में न पड़ूं तो मै कभी गृहस्थाश्रम का त्याग न करूं। शुद्धोदन यह सुनकर चुप हो रहे। कुमार ने एक दिन रात्रिको चुपके से घरसे निकल जानेका दृढ़ संकल्प कर लिया। आषाढ़ पूर्णिमा का दिन था। अर्ध रात्रि का समय था। सब लोग निद्रा के वशीभूत थे। इसी समय जाने से पूर्व कुमार ने एक बार गोपा और पुत्र को देखना चाहा। गोपा सो रही थी। उसके पास ही बालक सोता था। कुमार ने उन्हें देखा। उनका मन व्याकुल हुआ। एक स्वाभाविक प्रेम का दृश्य उन्हें निश्चित मार्ग से हटाने के लिए सामने आया। सहसा उन्हें उद्बोधन हुआ और वे मोह माया को छोड़ कर तुरन्त वहां से चल दिये। किसी को पता भी न चला कि वे कहां, कब और क्यों गये। प्रातःकाल होने पर राजा को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने कुमार को ढूंढने के लिए नौकरों को भेजा पर खोज करनेपर भी उनका कुछ पता न चला। उनको ढूंढने का सारा प्रयास विफल हुआ।

घर से निकल कर सिद्धार्थ सबसे प्रथम रेवत ऋषि के आश्रम में पहुंचे। यहां उन्होंने कुछ समय तक योगाभ्यास सीखा। तत्पश्चात् वे वैशाली नगर में आरण्डकालाम नामक विद्वान के ब्रह्मचर्याश्रम में गए और वहां कुछ दिन शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर वे राजगृह आये। राजगृह में रामपुत्र रुद्रक नाम का एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् रहता था। उसकी प्रशंसा सुन कर वे उससे मिलने गए और उनसे योग की अनेक विद्याएं सीखी। एक बार जब वे भिक्षा मांगने नगर में गए तो लोगों ने उनके राजलक्षणों को देखकर वहां के राजा बिम्बिसार को इसकी सूचना की। बिम्बिसार ने सिद्धार्थ के पास पहुंचकर अनेक उपदेशों द्वारा उन्हें सन्यास से विमुख होकर राज्यैश्वर्य भोग करने की प्रेरणा की पर सिद्धार्थ अपने संकल्प से तनिक भी विचलित नहीं हुए। राजगृह से वे हिमाचल पर विन्ध्यकोष्ट आश्रम में अण्डमुनि के पास पहुंचे। अण्ड मुनि के आश्रम में भी उन्होंने अनेक ऋषि मुनियों के सिद्धान्तों को सुना और उन पर मनन किया पर इससे भी उन्हें कुछ सन्तोष न हुआ। तदनन्तर वर्षों तक अनेक स्थानों मे घूम-घूम कर ज्ञानोपार्जन और घोर तपस्या की और शाश्वत सुख की खोज करने लगे। अन्त मे वे गयशीर्ष पर्वत (गया) के समीप निरंजना-नदी-तटस्थ उरुविल्व नामक ग्राम में पहुंचे और इस स्थान को उपयुक्त समझ कर वहीं पर तपस्या करने लगे। उरुविल्व में उनके साथ उनके पांच शिष्य भी थे जो राजगृह से ही उनके साथ हो लिए थे।

उन्हीं के साथ यहां वे एक पीपल के वृक्ष के नीचे समाधि लगा कर बैठ गये। छः वर्ष बीतने पर उनकी समाधि भङ्ग हुई। उस समय इनका शरीर बड़ा दुर्बल हो गया था। कुछ दिन के बाद स्वस्थ होकर इन्होंने पुनः समाधि लगाई और वर्षों तक इसी प्रकार समाधिनिरत रहे। अन्त में एक दिन उन्होंने आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया। आषाढ़ की पूर्णिमा को उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ और तभी से वे बुद्ध नाम से प्रसिद्ध हुए। अब वे अपने ज्ञान का उपदेश करने और संसार को निर्वाण मार्ग दिखलाने के लिये पृथ्वी-परिभ्रमण करने लगे और सर्वत्र अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया।

तपस्या से निवृत्त होकर उन्होंने देखा कि धर्म के नाम पर देश में महान् अत्याचार हो रहा है। बाह्याडम्बर, व्यभिचार और बलिदान को ही धर्म समझा जाता है। भारतवासियों का हृदय नैतिकता से सर्वथा शून्य हो गया है। अतः सर्वप्रथम इन्हीं बुराइयों का मूलोच्छेद करने के लिये वे कटिबद्ध हो गए। समस्त भारत में घूमकर वे अपने सिद्धान्तों का प्रचार और उपदेश करने लगे। उनका कथन था कि "जाति भेद से कोई ऊँच व नीच नहीं है।" छोटे बड़े सब मनुष्य हैं और इसीलिये समान हैं। धर्म के बाह्य लक्षणों की आवश्यकता नही। दान तथा पशुहिंसा के द्वारा धर्मानुष्ठान नही किया जाता। सत्य व्यवहार और पवित्र आचरण ही धर्म है। पशुओं का बलिदान पाप है। मोह ही सब बंधनों का कारण है। मोक्ष प्राप्ति का उपाय मोह ममता को छोड़कर प्राणिमात्र

का हितसाधन और मनका स्थिर करना है।" "अहिंसापरमोधर्मः" यह बुद्ध का मुख्य उपदेश था। वामियों के अत्याचार से लोग घबरा उठे थे अतः बुद्ध की सीधी सादी बातों ने उनके हृदय पर जादू का सा प्रभाव डाला। अनेक लोगों ने उनके चलाए हुए धर्म को ग्रहण किया। अनेक राजाओं ने भी अपने पितृपितामह-स्वीकृत धर्म का परित्याग कर बुद्ध के नए धर्म को ग्रहण किया। महाराज बिम्बिसार तथा अनेक ऋषि मुनि भी उनके शिष्य हो गए। पिता को देखने की इच्छा से एक बार बुद्धदेव फिर कपिल-वस्तु आए। पुत्र को देखकर शुद्धोदन को अत्यन्त आनन्द हुआ और साथ ही उसके भिक्षुक स्वरूप को देखकर दुःख भी हुआ। गोपा तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों ने भी बुद्ध के उपदेश से बौद्धधर्म स्वीकार किया। इसी अवसर में महाराज शुद्धोदन का स्वर्गवास हो गया।

महात्मा बुद्ध को अपने धर्म का प्रचार करते हुए ४५ वर्ष व्यतीत हो गए। इस समय उनकी अवस्था ८० वर्ष की थी। एक दिन वे गया से कुशीनगर प्रचार के लिये आए। मार्ग में एक लोहार के यहां उन्होंने कुछ चावल और मांस का आहार किया जिससे उनके उदर में पीड़ा हुई और आंव हो गई। कुशीनगर पहुँचते २ वे बड़े दुर्बल हो गए थे। वहां उन्होंने शिष्यों को बुलाकर बौद्ध धर्म के प्रचार और संगठन के विषय में शिक्षा दी और अन्त में वहीं अपना कर्त्तव्य समाप्त कर ऐहिक लीला संवरण की।

संसार में अनेक धर्म प्रचलित हुए और विलुप्त भी हो गए पर बौद्ध धर्म की गति उन सब में विलक्षण थी। पृथ्वी के सभी देशों में इसका प्रचार हुआ और आज तक अनेक देशों में उस का प्रभाव चिरस्थायी है। भगवान् बुद्ध ने अपनी कठिन तपस्या के द्वारा जो बातें जानीं उन्हें संसार के कल्याणार्थ प्रकाशित कर दिया। उन बातों को न केवल भारतीयों ने अपितु चीन, जापान, स्याम, तिब्बत, कोरिया, लङ्का आदि के निवासियों ने भी माना और उन पर विश्वास कर अनुष्ठान किया। उनके उपदेश सदैव संसार के कल्याण के लिये प्रधान साधन समझे जायँगे।

❀ ❀ ❀

३—स्वामी शंकराचार्य

इस परिवर्तनशील संसार में किसी भी वस्तु का स्वरूप सदैव एकसा नहीं रहता। क्या समाज, क्या धर्म, क्या नीति सभी में निरन्तर कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होता है परन्तु परिवर्तन का अर्थ प्रतिगामिता नहीं अपितु विकास एवं उन्नति-उत्कर्ष है। प्रतिगामिता अधःपतन का हेतु है। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के अनन्तर लगभग १२०० वर्ष तक भारतवर्ष में बौद्ध धर्मका बोल-बाला रहा। अनेक राजाओं और महाराजाओं के आश्रय से इसके प्रचार में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। महाराज हर्षवर्धन के राजत्व काल में तो यह उन्नति की पराकाष्ठा को पहुंच गया था। पर उसके उपरान्त ही ईसा की सप्तम शताब्दी के उत्तरार्ध से शनैः २ इसका भी ह्रास प्रारम्भ हुआ। बौद्धधर्मावलम्बियों की विलासिता, व्यभिचार और स्वार्थपरता ही इसके पतन का कारण हुए। वाममार्गियों के जिस पापाचार को विध्वंस करने के लिये बुद्ध संप्रदाय का आविर्भाव हुआ था बौद्ध धर्मानुयायी भी इस समय उसी में लिप्त हो गये। सहस्रों स्त्री और पुरुष भिक्षुक हो गये थे। बाह्याडम्बरों ने प्रायः वास्तविक धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया था। वेदों, शास्त्रों और पुराणों में लोगों की श्रद्धा नहीं रही थी।

वैदिक धर्म तो लुप्तप्राय ही हो गया था। बौद्ध-लोग-और उनके मतानुयायी राजागण वैदिक-धर्मावलम्बियों को नाना-प्रकार से उत्पीडित करते और धर्म के नाम पर उन पर भांतिर के अत्याचार करते थे। अहिंसा धर्म के अनुगामी-बौद्ध इस समय हिसा की सजीव मूर्ति बने हुए थे। वे हिन्दुओं को जीवित ही अग्नि मे जला देते और पर्वत शिखरों से उन्हें-गिराकर वैदिक धर्म के सत्य की परीक्षा लेते थे। वेद और धर्म का परित्याग कर भारतवासी, इस समय विपथगामी हो रहे-थे। ऐसे भयङ्कर धर्म-विप्लव के समय दक्षिण के मलाबार प्रान्त में भगवान् शंकर का आविर्भाव हुआ जिन्होंने-बौद्ध युग-के कदाचार- और कुनीति का उच्छेदन कर पुरातन वैदिक धर्म की पुनः प्राणप्रतिष्ठा की और पतित हिन्दू जाति का पुनरुद्धार किया। यदि उस समय शङ्कर न होते तो हिन्दू धर्म रसातल को चला गया होता और हिन्दू जाति का नाम संसार से मिट गया होता। यह इसी महापुरुष का कार्य था कि अपने तप-तेज और विद्या-बुद्धि के वैभव से वैदिक धर्म की रक्षा कर हिन्दू धर्म, संस्कृति और सभ्यता का परित्राण किया।

शंकर का जन्म ७८८ खीष्टाब्द के लगभग मलाबार प्रान्त के कालटी नामक ग्राम मे एक अत्यन्त प्रतिष्ठित नाम्बूरी ब्राह्मण कुल मे हुआ था। कालटी ग्राम- पूर्णा-नदी-तटस्थ पार्वत्य प्रदेश मे स्थित था और यहां विशेष कर ब्राह्मणों की ही बस्ती-थी। शकर के पितामह पण्डित विद्याधर- बड़े ही कर्मनिष्ठ, सदाचारी

और अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर केरल के महाराज ने उन्हें एक मन्दिर का प्रधानाध्यक्ष बना दिया था। वे अत्यन्त सरल साधु स्वभाव, उदारहृदय और शिव के अनन्य उपासक थे। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी सांसारिक विषयों में इनकी आसक्ति न थी। उन के एक पुत्र था जिसे भगवान् शंकर का प्रसाद समझ कर उन्होंने उसका नाम शिवगुरु रख दिया था। यही शिवगुरु शंकर के पिता थे।

शिवगुरु बड़े ही प्रतिभाशाली और बुद्धिमान् थे। अल्पकाल में ही इन्होंने समस्त वेदवेदाङ्ग और शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर लिया था इनकी विलक्षण बुद्धि और मेधा-शक्ति से प्रसन्न होकर इनके गुरु ने भी इन्हें विशेष मनोयोगपूर्वक विद्या वितरण की थी। शिक्षा समाप्त होने पर गुरु ने इन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर माता पिता और कुटुम्बी जनों को प्रसन्न करने का आदेश दिया। परन्तु ये प्रारम्भ से ही संसार से विरक्त और उदासीन रहा करते थे। अतः गुरु से नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि "भगवन्! मेरी अभिलाषा तो यावज्जीवन आपकी सेवा में रहकर तत्व-ज्ञान का अनुशीलन करने की है। आपकी शिक्षा के प्रभाव से संसार से मेरी मोह-ममता हट गई है, अतः गृहस्थ में प्रवेश कर शरीर और मनको कलुषित करने की मेरी इच्छा अब नही होती"। शिष्य की यह बात सुन गुरु प्रसन्न हुए परन्तु फिर कुछ विचार कर इस प्रकार समझाने लगे। "वत्स! तुम्हारा अभी सन्यास ग्रहण करने का समय नहीं आया। जब तक मनुस्य गृहस्थ बनकर

देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण इन तीनों से उन्मुक्त नहीं होता तब तक मानव जीवन के ध्येय की पूर्ति नहीं होती। अतः जाओ और गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर अपने माता पिता और आत्मीय जनों को प्रसन्न करो। कदाचित् निकट भविष्य में तुम्हारे द्वारा संसार का कोई महान् कार्य सिद्ध होने वाला है।" गुरु की यह बात सुन कर शिवगुरु घर लौट आये और माता पिता के पास रहने लगे। कुछ काल के उपरान्त पमघनाम के एक ब्राह्मण पण्डित की सुशीला और विदुषी कन्या कामाक्षादेवी के साथ इनका विवाह होगया।

विवाहानन्तर दाम्पत्य प्रेम से परितृप्त होकर वे बड़े आनन्द से समय यापन करने लगे। परन्तु अनेक वर्ष बीतने पर भी जब इन के कोई सन्तान न हुई तो पति पत्नी दोनों बड़े दुःखी हुए। एक दिन कामाक्षा देवी ने सन्तानाभाव से अत्यन्त दुःखी होकर पति से प्रार्थना की कि पुत्र-प्राप्ति के निमित्त देवाराधन करें। बुद्धिमती पत्नी की यह बात सुनकर शिवगुरु बड़े ही प्रसन्न हुए और शीघ्र ही कठोर व्रत धारण कर महादेव शिव की आराधना में तत्पर होगये। कुछ समय के पश्चात् भगवान् शङ्कर की कृपा से कामाक्षा देवी गर्भवती हुईं और यथा समय उन्होंने एक पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। शङ्कर की विभूति समझ कर पिता ने इनका नाम भी शङ्कर रख दिया। पीछे ये ही संसार में आचार्य शङ्कर के नाम से विख्यात हुए।

बाल्यावस्था से ही शङ्कर बड़े तेजस्वी, मेधावी और प्रतिभ

सम्पन्न थे। उनके मुख-मण्डल पर एक अपूर्व दैवी आभा झलकती थी जिसे देखकर सभी विस्मित और मुग्ध होजाते थे। यथासमय कुलमर्यादानुसार उपनयन संस्कार से दीक्षित होने पर वे विद्याध्ययन में प्रवृत्त हुए। अपनी विलक्षण प्रतिभा और प्रखर बुद्धि के कारण अल्प समय में ही इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन और मनन कर लिया। कहते हैं कि आठ वर्ष की आयु में ही कठिन से कठिन दर्शनशास्त्रों को समझने और उनकी व्युत्पत्ति करने में इन्होंने अच्छी गति प्राप्त कर ली थी। इनकी असामान्य मेधाशक्ति और नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को देख कर इन के गुरु और सहपाठी भी अत्यन्त आश्चर्यचकित हो इन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। शीघ्र ही शास्त्रज्ञान प्राप्त कर इन्होंने अच्छी ख्याति लाभ करली। सर्वत्र ही इन के पाण्डित्य और विद्वत्ता की चर्चा होने लगी। इसी समय दैवदुर्विपाक से इन के पिता का गोलोकवास हो जाने से इन्हें और इनकी माता कामाक्षा देवी को बड़ा दुःख हुआ। शङ्कर अत्यन्त सरल और साधु स्वभाव के थे। संसार की ओर से इन्हें प्रारम्भ से ही विरक्ति थी। ऐश्वर्य और भोगविलास में रुचि न होने से इस ओर वे कभी प्रवृत्त न हुए। पिता की मृत्यु से उनका विरक्तिभाव और भी दृढ़ होगया। संसार की असारता और क्षणभंगुरता ने इनके चित्त पर बड़ा प्रभाव डाला। महात्मा बुद्ध की भांति ये भी किसी निर्जन व एकान्त स्थान में बैठकर अत्यन्त चिन्ताशील हो अनेक गम्भीर और उच्च तत्वों को

खोज में मग्न होजाते थे और कभी २ तो तत्वचिन्ता में इतने लीन हो जाते कि अपनी स्नेहमयी जननी का भी इन्हें स्मरण न रहता था।

एक दिन की बात है कि सायङ्काल के समय किसी सन्यासी से शङ्कर की भेंट हो गई। सन्यासी इनके असामान्य तेज को देखकर बड़ा प्रभावित हुआ और उसने इन्हें कोई दिव्य असाधारण बालक समझ कर इनसे पूछा कि 'तुम कौन हो'? शङ्कर ने मन्द हास्य से उत्तर दिया 'मै नही जानता।' सन्यासी ने उन के मनोभाव को समझ कर फिर पूछा कि 'क्या वास्तव में तुम नही जानते कि तुम कौन हो।' शङ्कर ने फिर वही उत्तर दिया और विनम्र होकर प्रार्थना करने लगे कि 'महात्मन्! कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे मै जान सकूँ कि मै कौन हूं।' सन्यासो बोला—'यही तो जीवन का वास्तविक तत्व है। पर संसार मे रह कर यह नहीं जाना जासकता।' यह सुनकर शङ्कर ने कुछ गम्भीर होकर दृढ़तापूर्वक कहा—'महात्मन्! वह तत्व तो आपके अन्त.करण में ही वर्तमान है। उसकी खोज के लिये कही अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही। आत्म-चिन्तन और आत्म-दर्शन से ही उसकी उपलब्धि हो सकती है।' शकर की यह मर्मयुक्त गूढ़ वाणी सुनकर साधु वड़े विस्मित हुए और आशीर्वाद देकर वहां से जाने लगे। शङ्कर ने उनका पीछा किया और उनकी कुटी मे पहुँचकर उनसे सन्यास की दीक्षा देने के लिये प्रार्थना की। साधु ने अत्यन्त स्नेह के साथ कहा—वत्स! अभी

तुम्हारी अवस्था सन्यास के योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त अपनी माता के तुम्ही एक अवलम्ब हो अतः उनकी इच्छा व अनुमति के बिना ऐसा करना उचित नही क्योंकि इससे कोई सिद्धि-लाभ नहीं हो सकता। साधु की बात सुनकर शङ्कर बड़े विस्मित हुए और वही एक स्थान में बैठकर 'मैं कौन हूँ'—इस प्रश्न पर विचार करने लगे। उसी समय उन्होंने 'आत्मबोध' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। बहुत रात्रितक वे इसी प्रकार समाधिस्थ योगी की भांति वहां बैठे रहे। पीछे जब उनकी माता और आत्मीय जन खोजते खोजते वहां पहुँचे तो उनके साथ घर लौटे।

घर पर वे निरन्तर इसी चिन्ता में मग्न रहते कि किस प्रकार माता की आज्ञा प्राप्त कर सन्यास ग्रहण करूँ। संसार की ओर से उनका विरक्तिभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था जिसे देख कर उनकी माता और आत्मीय बन्धुबान्धव विशेष चिन्तित रहते थे। वे आमोद-प्रमोद और विवाहादि बन्धनों में डाल कर उन्हें इस ओर से हटाना चाहते थे। परन्तु शङ्कर उनकी बातों को उपेक्षा दृष्टि से सुनते थे। उनके चित्त पर किसी की बात का कुछ भी प्रभाव न पड़ता था। वे तो सदैव सांसारिक बन्धनों को छोड़ने के लिये माता की अनुमति प्राप्त करने का उपाय सोचा करते।

एक समय की बात है कि उन्हें माता सहित किसी कार्यवश ग्रामान्तर जाना पड़ा। मार्ग में एक नदी पड़ती थी जिसे पैरों से ही पार किया जा सकता था, किन्तु शङ्कर और उनकी माता ने जैसे ही उसमें प्रवेश किया कि अकस्मात् बाढ़ आजाने से नदी के

प्रवाह का वेग प्रबल हो गया। माता और पुत्र दोनों डूबने लगे। उसी समय शङ्कर को देवादेश हुआ कि यदि वे संसार त्यागकर सन्यास ग्रहण करलें और माता भी सहर्ष अनुमति दें तो उनके प्राणों की रक्षा हो सकती है अन्यथा नहीं। शङ्कर ने इस सुअवसर का लाभ प्राप्त कर विनय पूर्वक माता को देवादेश सुनाया और उनसे सन्यास ग्रहण करने की आज्ञा देने के लिए प्रार्थना की। माता इस घोर विपत्ति में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर मर्मान्तक वेदना का अनुभव करने लगी। उनकी अभिलाषा थी कि पुत्र को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करा कर उसके साथ सुख से समय वितावें। पर उनकी यह आशा निराशा में परिणत हो गई। इस समय शङ्कर को सन्यास ग्रहण करने की अनुमति न देने से उन दोनों को जीवन से हाथ धोना पड़ेगा और अनुमति देने से अपने एक मात्र पुत्र का सदा के लिए वियोग सहन करना होगा—वे इस प्रकार सोच ही रही थी कि नदी में जल की और अधिक वृद्धि होने से वे दोनों आकण्ठ निमग्न हो गये। शङ्कर ने फिर कहा कि 'माता! प्राण रक्षा का और कोई उपाय नहीं है।' शङ्कर की बात सुनकर माता ने अत्यन्त व्याकुल होकर कहा कि 'अच्छा, ईश्वर की इच्छा पूर्ण हो। मृत्यु की अपेक्षा सन्यास लेकर जीवित रहना ही अच्छा है। जाओ मैं तुम्हें सहर्ष सन्यास ग्रहण करनेकी आज्ञा देती हूँ, इस प्रकार माता की अनुमति देने पर दैवयोग से नदी का बढ़ा हुआ जल उतर गया और माता पुत्र दोनों नदी से निकल कर कुशलपूर्वक घर पहुँचे। वहां पहुँचकर शङ्कर ने माता से

विदा मांगी। माता ने उनसे यह वचन लेकर कि वे वर्ष में एक बार उसे अवश्य देख जाया करेंगे उन्हें विदा किया।

विदाई के समय का दृश्य बड़ा ही हृदय-द्रावक था। वियोगातुर माता उद्भ्रांतकी भांति विलाप करने लगी। परम मातृभक्त पुत्र शङ्कर का प्रशान्त हृदय भी माता के करुण क्रन्दन को सुनकर विचलित हो गया। उनके नेत्रों से भी अविरल अश्रु-प्रवाह होने लगा। किन्तु फिर सोच विचार कर माता को समझाने लगे 'कि माता देवादेश का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है। संसार में सभी घटनायें ईश्वर की इच्छा और संकेत के अनुसार घटित होती हैं, अतः स्वयं भगवान् ने ही मुझे भी इस बन्धन मे डाला है। यह सोचकर इस समय किसी प्रकार का दुःख न मानिये अपितु प्रसन्नतापूर्वक मुझे बिदा कीजिये।' इस प्रकार माता को समझा-बुझाकर शङ्कर वहां से चल दिये।

गृहपरित्याग के अनन्तर शङ्कर दक्षिण के एक परमविश्रुत विद्वान् आचार्य गोविन्दपाद के आश्रममें पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि उन्हें अपना शिष्य बनाले। आचार्य गोविन्दपाद उस समय समस्त देश में उच्च-कोटि के पण्डित माने जाते थे। दूर-दूर तक उनकी ख्याति हो गई थी। उनके अपूर्व पौरुष, अद्भुत त्याग और प्रगाढ़ विद्वत्ता के करण अनेक प्रतिभाशाली छात्र उनके शिष्य बनने के लिये लालायित रहते थे। गोविन्दपाद का यह नियम था कि वे विना परीक्षा लिये किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते थे। शङ्कर की प्रार्थना सुनकर उन्होंने एक बार आपादमस्तक

उनका निरीक्षण किया और शङ्कर की अलौकिक तेजोमयी मूर्ति को देखकर वे परम प्रसन्न हुए। तदनन्तर उन्होंने शङ्कर से अनेक प्रश्न किये जिनका उन्होंने बड़ी योग्यता और युक्ति के साथ उत्तर दिया। उसे सुनकर वहां बैठी हुई समस्त शिष्यमण्डली अत्यन्त चकित और विस्मित होगई। आचार्य गोविन्दपाद ने शङ्कर के ज्ञान और बुद्धि से सन्तुष्ट होकर उन्हें अपना शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया। गोविन्दपाद के आश्रम में रहकर शङ्कर ने सभी शास्त्रों का पूर्ण रूप से अनुशीलन किया। इस अत्यन्त व्युत्पन्न और बुद्धिमान् शिष्य को प्राप्त कर गुरु परम प्रसन्न हुए।

शङ्कर की युक्ति-पूर्ण तर्कक्षमता अप्रतिम थी। बड़े से बड़े प्रतिवादी को भी वे सहज में ही निरुत्तर कर देते थे। प्रगाढ़ विद्वत्ता और पाण्डित्य के साथ ही साथ उनमें नम्रता भी कूट २ कर भरी थी। क्रोध और घृणा के भाव उन के मुख से कभी व्यक्त नहीं होते थे। इस लिये उनकी योग्यता की धाक दूसरों पर अच्छी तरह बैठ जाती थी। एक दिन की बात है कि गोविन्दपाद के गुरु परम विद्वान् और प्रतिष्ठित पण्डित गौड़पाद उनके आश्रम में आए। वे बौद्धों के पापाचार और कुनीति-परायणता के कट्टर विरोधी थे और इसी लिये बौद्धधर्म को विध्वंस कर उसके स्थान में प्राचीन वैदिकधर्म की पुनः स्थापना के लिये निरन्तर चिन्तित रहते थे। अपने उस ध्येय की पूर्ति के लिये वे एक योग्य शिष्य की खोज में थे। गोविन्दपाद के आश्रम में शङ्कर के असाधारण पाण्डित्य, अलौकिक ज्ञान-गाम्भीर्य, अद्भुत प्रतिभा और अप्रतिम

तर्कक्षमता को देखकर वे बड़े प्रभावित हुए और सोचने लगे कि यही बालक मेरे उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयुक्त सिद्ध होगा। अतः इन्होंने गोविन्दपाद से कहा—'गोविन्द तुम्हारा यह शिष्य बड़ा प्रतिभासम्पन्न है। इसके लक्षणों से प्रतीत होता है कि निकट भविष्य में यह एक महापुरुष होगा और इसी के द्वारा बौद्धधर्म का अनाचार उन्मूलन करने के हमारे उद्देश्य की सिद्धि होगी। अतः तुम इसे ऐसी शिक्षा दो जिससे इसे वैदिकधर्म में श्रद्धा हो और अधर्मी व अत्याचारी बौद्धों के प्रति ग्लानि उत्पन्न होजाय।' गोविन्दपाद ने गुरु की बात का समाधान करते हुए कहा कि शङ्कर को प्रारम्भ से ही वैदिकधर्म में श्रद्धा है, अतः हमें इस विषय में निश्चिन्त रहना चाहिए। तदनन्तर शङ्कर आश्रम में रह कर गुरु के द्वारा और भी मनोयोगपूर्वक शिक्षा ग्रहण करने लगे। १६ वर्ष की आयु में इन्होंने गुरु से सन्यासधर्म की दीक्षा देने के लिये प्रार्थना की। गुरु ने इन्हें उपयुक्त पात्र समझ कर उसमे दीक्षा दे दी; तभी से ये शङ्कराचार्य कहलाने लगे।

आश्रम की शिक्षा और अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् स्नातक-पद से विभूषित होकर इन्होंने गुरु की अनुमति से भारत में भ्रमण कर बौद्धधर्म का उच्छेदन और वैदिकधर्म का प्रचार करने का संकल्प किया। नाना स्थानों में घूमकर इन्होंने अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता और ज्ञान-गांभीर्य का परिचय दिया। हम पहिले कह चुके हैं कि उस समय बौद्धों और वाममार्गियों ने देश में धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न करदी थी। वैदिकधर्म लुप्तप्राय हो गया

था और उसके स्थान में नास्तिकता का प्रचार होने लगा था। इसके अतिरिक्त इस समय लोगों में कदाचार और व्यभिचार की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। सदाचारिता, भ्रातृ-प्रेम, त्याग और अहिंसा के भावों को विस्मरण कर लोग बाह्याडम्बर और बाह्याचारों मे लिप्त होगये थे और नाना प्रकार के अत्याचारों से जनसमुदाय व्याकुल हो उठा था। यद्यपि इस भीषण परिस्थिति का सामना करने और उसे परिवर्तित करने का प्रयत्न करने मे उस समय कुमारिलभट्ट, मण्डनमिश्र और गौडपादाचार्य आदि अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् संलग्न थे तथापि शङ्कर के रूप और तेज की महिमा से बौद्धाचार्यों के आसन हिल गये। अपने विशुद्ध अद्वैतवाद का प्रचार कर उन्होंने सर्वत्र वैदिक धर्म की पताका फहराई और नास्तिक बौद्धधर्म का मूलोच्छेदन करना प्रारम्भ कर दिया। देशमें एक प्रकार की उथल-पुथल मच गई और मनुष्यों के झुण्ड के झुण्ड पापिष्ठ वाममार्ग और बौद्धधर्म का परित्याग कर वैदिक-धर्मी बनने लगे। अनेक राजाओ और महाराजाओं ने भी शङ्कर की महिमा और प्रशंसा सुनकर उन्हें आमन्त्रित किया और उनके उपदेशामृत का पान कर अपने को कृतकृत्य माना तथा वैदिकधर्म की शरण में आगये। इस प्रकार एक बार फिर सनातन वैदिक-धर्म का डङ्का समस्त भारत में बज उठा।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये सब से पूर्व इन्होंने वैदिकधर्म के विरोधी दलों के प्रधानाचार्य और पण्डितों को परास्त करना प्रारम्भ किया। बौद्धों और वामियों ने इन्हें पाखण्डी और

नास्तिक कहना आरम्भ कर दिया और शास्त्रार्थ में हारने पर नाना प्रकार के षड्यन्त्र रचकर शङ्कर को मार डालने तक की धमकी दी। परन्तु शङ्कर अपने सिद्धान्त पर पर्वत की नाईं अटल थे। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक इन सब बातों का सामना किया और अन्त में अपने ध्येय की प्राप्ति में सफल हुए। कामरूप, काशी, रामेश्वर, द्वारिका, बद्रीनारायण आदि सभी स्थानों का भ्रमण कर सर्वत्र वैदिक धर्म का प्रचार और स्थापना की। समस्त भारत में इन्होंने चार मठ स्थापित किये। उत्तर में बदरिकाश्रम में जोशी मठ, दक्षिण में तुङ्गभद्रा नदी के तटपर मध्यार्जुन नामक स्थान में विद्यामठ जो आज कल शृङ्गेरीमठ के नाम से प्रसिद्ध है, पूर्व में जगन्नाथपुरी में जगदीश मठ और पश्चिम मे द्वारिका में शारदामठ। इस प्रकार सारे देश का भ्रमण कर और नास्तिक बौद्धधर्म तथा तज्जनित कदाचार और कुसंस्कार को दूर कर शङ्कर ने हिन्दू जाति का पुनरुद्धार किया।

शङ्कर के जीवन के संबन्ध मे अनेक प्रकार की किंवदन्तियां और घटनायें प्रसिद्ध हैं जिन पर सर्वसाधारण का सरलता से विश्वास नही हो सकता। परन्तु यह एक निश्चित तथ्य है कि वे एक महान् आत्मा थे। अपने जीवनकाल में उन्होंने अनेक असाधारण और दैवी कार्यों द्वारा इस महत्ता का परिचय दिया था। वे परम योगी थे और योगबल के द्वारा ही उन्होंने सिद्धि प्राप्त की थी। ३२ वर्ष की अल्पायु में ही अपनी अपूर्व प्रतिभा और महत्ता के बल से अखिल विश्व को अपने यश सौरभ से

सुरभित कर उन्होंने समाधि द्वारा ब्रह्म में लय होकर इस धराधाम के कोलाहल से विश्राम प्राप्त कर लिया। उनके जीवन की अनेक घटनाओं में मण्डन मिश्र और उनकी परमविदुषी पत्नी सरस्वती के साथ शास्त्रार्थ की घटना अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमे से मुख्य ये है। (१) ब्रह्मसूत्र भाष्य, (२) गीता भाष्य और (३) उपनिषद् भाष्य। इन सभी ग्रन्थोंमे इन्होंने अपने अद्वैत मतका प्रतिपादन किया है इनका कथन था कि "जीव और ब्रह्म में कोई भेद नही। मायामोह में फंसा हुआ जीव भगवान् से अपने को भिन्न समझता है। चित्तशुद्धि और बुद्धि-सस्कार के द्वारा मायामोह का आवरण दूर होते ही वह इसके परमतत्व को जान सकता है। अतः बाह्याडम्बरों का परित्याग कर परमानन्द प्राप्ति के लिये यत्नशील होना चाहिये। बिना आत्म-तत्व की प्राप्ति के मुक्ति नही हो सकती।" इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में तो क्या समस्त संसार के इतिहास मे शङ्कर के अद्वैत दर्शन की तुलना करने वाला कोई दूसरा ग्रन्थ ही नहीं है। ऐसे महापुरुष के जीवन और सिद्धान्त का अनुगमन करने पर जीवमात्र का कल्याण साधन हो सकता है।

❀ ❀ ❀

४—भीष्म पितामह

वीरता आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है। इसका संबंध शारीरिक बल से नहीं अपितु मानसिक बल से है। जिसका मन जितना बलवान् होता है, जिसमें जितना उत्साह अधिक होता है और अपनी शक्तियों पर भरोसा होता है, जिसका मन अपने अधीन होता है, वही वीरता के क्षेत्र में पदार्पण कर सकता है; अतएव वही वीर है। वीरों की प्रकृति और कार्यों पर विचार करने से विदित होता है कि वे किसी वस्तुविशेष, भावविशेष अथवा सिद्धान्तविशेष की रक्षा के भाव से प्रेरित होकर ही मैदान मे आते हैं और अपनी लोकोत्तर शक्ति तथा पराक्रम आदि के उपयोग से ऐसे कार्य सिद्ध कर दिखाते हैं जो साधारण शक्तियों से कदापि नहीं हो सकते। अपनी उद्देश्यसिद्धि के मार्ग में आनेवाली कठिन से कठिन विघ्नबाधाओं से भी वे कभी भयभीत नहीं होते, प्रत्युत अपने धर्म और मर्यादा की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर देने को तत्पर रहते हैं। संसार में जितने भी वीर पुरुष हो गये हैं उनमें भीष्म की समता करनेवाला कदाचित् ही कोई हुआ है। सहस्रों वर्ष व्यतीत हो चुके, अनेक राज्यक्रान्तियां यहां हुईं और लक्षो मनुष्य उत्पन्न

हुए और मरे किन्तु इस महापुरुष की कीर्ति आज तक ज्यों की त्यों अचल बनी है। इसका कारण उनकी असामान्य पितृ-भक्ति, अलौकिक सत्यपरायणता और असाधारण वीरता है। उनका जीवन चरित्र तथा लोकातीत कार्य प्रणाली सर्वदा दूसरों के लिये आदर्श और शिक्षाप्रद है। पिता की प्रसन्नता के निमित्त आ-जन्म ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करने की प्रतिज्ञा कर उन्होंने अपने अपूर्व स्वार्थत्याग, अतुलित पराक्रम और दृढ़ कर्त्तव्यनिष्ठा का परि-चय दिया और अपना सारा जीवन परहित सेवा में व्यतीत किया था।

प्राचीन काल में उत्तर भारत में हस्तिनापुर नाम का एक प्रसिद्ध राज्य था। यहां चन्द्रवंशी महाराज शान्तुन राज्य करते थे। वे बड़े ही धार्मिक, बुद्धिमान् और प्रजावत्सल थे और न्याय-पूर्वक प्रजा का पालन करते थे। इन्हीं महाराज शान्तुन के देवव्रत नामक एक पुत्र था। देवव्रत की माता का नाम गंगा था इसी से वे गांगेय भी कहलाते हैं। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से देवसदृश देदीप्यमान होने के कारण ही उनका नाम देवव्रत पड़ा था। बाल्यावस्था मे ही माता गंगा इन्हें मातृ-प्रेम से वञ्चित कर स्वर्ग सिधार गईं; अतः राजकुमार के लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा का सारा भार इनके पिता पर ही पड़ा। महा-राज शान्तनु ने बड़े योग्य और सुन्दर शिक्षकों द्वारा इन्हें शिक्षा दिलाई थी और परशुराम जी से इन्हें धनुर्विद्या मे प्रवीण कराया था। अपनी असाधारण प्रतिभा और दृढ़ अध्यवसाय के

द्वारा इन्होंने वेद, वेदान्तादि सभी शास्त्रों में पारदर्शिता प्राप्त कर अस्त्र-शस्त्र विद्या में भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। ऐसे सुयोग्य पुत्र को पाकर महाराज के आनन्द की सीमा न रही। पुरवासी जन भी राजकुमार की तेजस्विता, सदाचार और पाण्डित्य को देख कर परम प्रसन्न होते थे।

राजकुमार के युवा होने पर महाराज ने नगरवासियों की सम्मति से उन्हें युवराज-पद पर अभिषिक्त किया। युवराज देवव्रत परम पितृभक्त थे, और प्रजा पर भी उनका असाधारण अनुराग था। वे सदैव प्रजा-हित-कार्यों में संलग्न रहते थे। उनके प्रत्येक कार्य में स्नेह और दया की मात्रा प्रचुर परिमाण में पाई जाती थी। उनके सद्व्यवहार और सत्कार्यों से लोगों की उनमें उत्तरोत्तर श्रद्धा और प्रीति बढ़ती जाती थी। नम्रता और विनीतता के साथ ही साथ उनकी शासन-क्षमता भी अनुपम थी। शत्रु-गण उनकी तेजस्विता को देखकर निरन्तर भयभीत रहते थे। किन्तु वे दीनों के बन्धु और विपन्नों के सहायक थे। अपने सद्गुणों के कारण वे सर्वत्र अत्यन्त सम्मानित और प्रशंसित होते थे। ऐसे सुयोग्य पुत्र के द्वारा अपने को यथार्थ पुत्रवान् समझ कर महाराज शान्तनु फूले अङ्ग नहीं समाते थे। उन्होंने समस्त राज्य-कार्य युवराज को सौंप कर निश्चिन्ततापूर्वक समय बिताने का संकल्प किया और इस प्रकार चार वर्ष व्यतीत हो गये।

गङ्गा के स्वर्ग चले जाने पर शान्तनु को बड़ा दुःख हुआ था, परन्तु वे निरुपाय थे। भीष्म के समान तेजस्वी, धर्मात्मा और

वीर-पुत्र के वर्तमान होते हुए यद्यपि वंश-नाश की कोई सम्भावना न थी, तथापि उनकी दूसरा विवाह करने की अभिलाषा थी। शास्त्रकारों का कथन है कि जिसके एक पुत्र है उसकी गणना अपुत्रकों में ही होना उचित है। यही सोच कर वे निरन्तर चिन्तित रहते थे। ईश्वर न करे कि कहीं इस अनित्य और विनाशी संसार में उनके एक-मात्र पुत्र का कभी कुछ अनिष्ट हो जिससे उनका वंश निर्मूल हो जाय। इसी चिन्ता से उनके मन पर सदा विषाद की कालिमा छाई रहती थी। अतः उनकी इच्छा थी कि उनके एक दो सन्तान और हों।

एक दिन की बात है कि वे यमुना-तटवर्ती एक वन में घूम रहे थे। वहां उन्होंने देवबालाओं के समान रूप-लावण्यवती एक सुन्दरी कन्या को देखा। उसके शरीर से मनोहर सुगन्धि निकल रही थी जिससे वह समस्त वन-स्थली सौरभमयी हो रही थी।

उस कन्या को देखकर शान्तनु के मन में उसके साथ विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हुई। अतः उन्होंने उससे पूछा—"भद्रे! तुम कौन हो?" रमणी ने उत्तर दिया—"महाराज! मै महात्मा दासराज नामक धीवर की कन्या हूँ और उनकी आज्ञानुसार यमुना में नाव खेती हूँ।" शान्तनु उस सुन्दरी का परिचय प्राप्त कर उसके पिता दासराज के पास गए और उससे उन्हों ने अपने साथ उस कन्या का पाणिग्रहण करदेने की इच्छा प्रकट की। दासराज धीवर ने महाराज का अभिप्राय जानकर कहा—"कि महा

राज ! आप जैसे प्रतिष्ठित राजकुलों में उत्पन्न और विपुल धन-धान्य-पूर्ण राज्य के अधिपति को अपना जामाता बनाने में मैं अपने को परम सौभाग्यशाली समझूंगा परन्तु पूर्व इसके कि मैं अपनी कन्या सत्यव्रती का विवाह आपके साथ करदूं आपको मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ेगी। मेरी अभिलाषा है कि उस कन्या के गर्भ से उत्पन्न सन्तान आपके राज्य को उत्तराधिकारी हो। यदि आप मुझे यह वचन दें तो मैं अभी आपके साथ इसका विवाह करने को प्रस्तुत हूँ।"

धीवर की यह बात सुनकर शान्तनु बड़े क्षुब्ध हुए और मनमें सोचने लगे कि अपने सद्गुणों के कारण जो सारी प्रजा का परम प्रीतिभाजन और विश्वास-पात्र बना हुआ है और संसार भरमें जिसके शास्त्रज्ञान, अतुल पराक्रम और सत्कार्यों की प्रशंसा हो रही है ऐसे प्राणाधिक गुणी पुत्र को राज्याधिकार से वञ्चित कर मेरे समान स्त्रीलोभी और कौन होगा—ऐसा विचार कर उन्होंने धीवर की प्रार्थना अस्वीकृत करदी और राजधानी को लौट आए; पर उनका मन सुखी और शान्त नहीं हुआ। चिन्ता के कारण उनके मुख का तेज घटने लगा और वे दिन दिन क्षीण होने लगे।

पिता को इस प्रकार उदास और चिन्तातुर देखकर पितृभक्त देवव्रत को बड़ा दुःख हुआ। अतः उन्होंने नम्रतापूर्वक उनसे इसका कारण पूछा। शान्तनु बोले—"पुत्र ! मेरे कुल के तुम्हीं एक मात्र आधार हो। ईश्वर न करे कि यदि कहीं किसी समय कोई अनिष्ट हो तो हमारा यह पवित्र वंश निर्मूल हो जायगा।

अतः मैं सदैव तुम्हारे लिये ही चिन्तित रहता हूँ।" पिता की यह बात सुनकर देवव्रत कुछ देर तक मौन रहे, तत्पश्चात् परमहितैषी मन्त्री के पास जाकर उन्होंने यह सब समाचार उससे कहा। मन्त्री ने देवव्रत को बतलाया कि महाराज अधिक सन्तान की लालसा से दासराज की कन्या सत्यवती के साथ विवाह करना चाहते हैं। मन्त्री के मुखसे पिता का अभीष्ट जान कर देवव्रत तदनुकूल कार्य करने का यत्न करने लगे। वे कभी नहीं चाहते थे कि उनके पिता किसी प्रकार उदास और दुःखी रहकर समय बितायें। अतः वे तुरन्त कुछ साथियों के साथ दासराज के समीप गये और उससे प्रार्थना की कि अपनी पुत्री का उनके पिता के साथ विवाह कर दे। दासराज ने उनका बड़ा आदर सत्कार कर उनसे कहा—"महाराज! मुझे आपकी प्रार्थना स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं, पर कन्या के मंगल की कामना से मुझे इसमें केवल एक दोष दीख पड़ता है। कहीं ऐसा न हो कि इस संबंध के होने पर आपके साथ शत्रुता बंध जाय।" देवव्रत तुरन्त दासराज का अभिप्राय समझ गये। मनसा, वाचा, कर्मणा पिता की आज्ञा पालन करना ही वे अपना धर्म व कर्त्तव्य समझते थे। पिता की प्रसन्नता और सुख के लिये उन्हें अपने प्राणों की भी चिन्ता न थी। अतः धीवर की बात सुन कर उन्होंने अपने अपूर्व स्वार्थ-त्याग का परिचय देते हुये उसे सम्बोधन कर कहा—"हे सौम्य! मेरी सत्य-प्रतिज्ञा को सुनो। मैं अपना राज्याधिकार छोड़े देता हूँ। तुम्हारी कन्या का पुत्र ही पिता की सारी संपत्ति का

अधिकारी होगा। मैं स्वयं उसके मस्तक पर छत्र धारण कर उसे कुरुराज्य का अधिपति बनाऊंगा।" धीवर ने कहा—"सत्यवादिन् राजकुमार! पिता पर आपकी अटल-भक्ति और स्नेह है, इसी कारण आप अपना राज्याधिकार छोड़ रहे हैं। आपने जो प्रतिज्ञा की है मुझे उसमें तनिक भी सन्देह नहीं। परन्तु आपके प्रतापी पुत्र भी आपकी प्रतिज्ञा का ध्यान रक्खेंगे इसका विश्वास कैसे किया जाय?" यह सुन मनस्वी देवव्रत ने अत्यन्त दृढ़ता और गम्भीरता के साथ उत्तर दिया—"दासराज़! मेरे पुत्र ऐसा नहीं कर सकते। पर यदि तुम्हें इसमें सन्देह है तो मै प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजन्म ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करूँगा। पिता ही परम गुरु, पिता ही परम धर्म और पिता ही परम तपस्या है। अतः पिता की प्रसन्नता के निमित्त मै इस कठोर प्रतिज्ञा-पाश में बद्ध होता हूँ। अपुत्रक होने से मुझे अक्षय्य स्वर्ग-लाभ प्राप्त होगा। मैं देवताओं तथा त्रिलोकी का राज्य भी छोड़ सकता हूं अथवा इससे भी अधिक यदि कोई वस्तु हो तो उसका भी त्याग कर सकता हूँ, पर सत्य का त्याग किसी प्रकार नहीं कर सकता। पृथ्वी गंध छोड़ दे, जल रस छोड़ दे, प्रकाश रूप छोड़ दे, वायु स्पर्शगुण त्याग दे, सूर्य अपना तेज और अग्नि अपनी उष्णता छोड़ दें, आकाश शब्द और चन्द्रमा शीतलता का परित्याग कर दे, इन्द्र अपना पराक्रम छोड़ दे और धर्मराज धर्म का त्याग कर दें, पर मैं सत्य छोड़ने की इच्छा कदापि नहीं कर सकना। अतएव तुम निर्भय होकर अपनी पुत्री पिता जी को दान कर दो।"

देवव्रत की प्रतिज्ञा को सुनकर दासराज बड़ा विस्मित हुआ और उसने कन्यादान करना स्वीकार कर लिया। राजकुमार की प्रतिज्ञा का वृत्तान्त सुनकर समस्त प्रजा के लोग उनकी अत्यन्त प्रशंसा करने लगे। इस भीषण प्रतिज्ञा करनेके कारण ही युवराज गांगेय भीष्म नाम से प्रसिद्ध हुये। धीवर ने सत्यवती को भीष्म के हाथ सौंप दिया। भीष्म ने माता के समान उसका सम्मान कर उसे रथ में बैठाया और पिता के समीप ले आये। महाराज शान्तनु अपने पुत्र की ऐसी दृढ़ पितृभक्ति देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसकी असाधारण क्षमता और अपूर्व अध्यवसाय को देख कर बोले—'पुत्र! मै वरदान देता हूं कि तुम्हारी इच्छा मृत्यु होगी।'

भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर अपनी इस प्रतिज्ञा का पूर्ण रूप से पालन किया। उनके जीवन में अनेक विकट समय आये, लोगों ने इन्हें समझाया बुझाया और वंशनाश का भय तथा विवाह के गुण बतलाकर इन्हें विवाह करने की प्रेरणा की, पर ये अचल रहे। अपनी इस अलौकिक पितृभक्ति और सत्य-प्रतिज्ञता के कारण ही वे आज संसार में अमर हैं।

सत्यवती के साथ शान्तनु का विधिपूर्वक विवाह होने के पश्चात् महाराज की उदासीनता लुप्त होगई। महामना भीष्म भी माता पिता दोनों की प्रसन्नता के लिये दत्तचित्त होकर उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न रहने लगे। कुछ काल के उपरान्त सत्यवती से शान्तनु के चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य नाम के दो

पुत्र उत्पन्न हुये। विचित्रवीर्य जब छोटा ही था कि महाराज शान्तनु का देहावसान होगया। पिता की मृत्यु से भीष्म को मर्मभेदी शोक हुआ, उनके मन पर बड़ी गहरी चोट लगी। परन्तु फिर भी वे कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुए। पिता का क्रिया कर्म आदि यथा-विधि समाप्त कर माता सत्यवती की आज्ञा से उन्होंने अपनी प्रतिज्ञानुसार चित्राङ्गद को राजसिंहासन पर बैठाया और नीति-सम्बन्धी अनेक उपदेश देकर स्वयं राज्य के समस्त कार्यों में उसे सहायता देने लगे। चित्राङ्गद बड़ा बुद्धिमान् और पराक्रमी था। वीरता प्रदर्शन और युद्ध करने की उसे बड़ी अभिलाषा रहती थी, अतः शत्रुओं को पराजित करने का सङ्कल्प कर वह निरन्तर युद्ध मे ही प्रवृत्त रहता था। एक समय चित्राङ्गद नाम के गंधर्व राजा से युद्ध करते हुये वह मारा गया। तब भीष्म ने विचित्र-वीर्य को राज्यासन पर बैठाया किन्तु विचित्रवीर्य की अवस्था छोटी होने के कारण वे स्वयं ही इस समय सब राजकार्यों की देख भाल करते थे। शनैः २ विचित्रवीर्य के युवा होने पर भीष्म ने उसका विवाह कर देना चाहा। उसी समय काशिराज की तीन कन्याओं का स्वयंवर होने का समाचार पाकर भीष्म वहां गये और वहां से अनेक राजाओं को जीतकर उन तीनों राज-कन्याओं को हस्तिनापुर ले आये। तदनन्तर सत्यवती के साथ परामर्श करके भाई के विवाह की तैयारी करने लगे। इतने में काशिराज की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा ने उनसे कहा—"मै पहिले अपने मन में शाल्व राज को अपना पति वर चुकी हूं।" यह सुन भीष्म

ने अम्बा को आदरपूर्वक शाल्व राज के पास भेज दिया और काशी नरेश की अन्य दो कन्याओं अंविका और अंबालिका का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दिया।

शाल्व ने अम्बा को यह कह कर लौटा दिया कि भीष्म ने तुम्हारा हरण किया है, अतः मै तुम्हारे साथ विवाह नहीं कर सकता। अम्बा ने भीष्म से आकर कहा कि शाल्व राज मुझे अंगीकार नहीं करते अतः अब तुम मेरे साथ विवाह करो। भीष्म बोले—"मेरे समक्ष तो स्त्रीमात्र भगिनीसदृश है। मैंने तो आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की है।" अम्बा इस अपमान से पीड़ित होकर परशुराम के पास गई और उनसे भीष्म को दण्ड देने की प्रार्थना की। परशुराम ने भीष्म को बुलाकर कहा—"अम्बा के साथ तुम विवाह करो अथवा मेरे साथ युद्ध करो।" भीष्म ने उन्हें अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हुए युद्ध करने की इच्छा प्रगट की। अतः सत्ताईस दिन तक घोर युद्ध हुआ; अन्त मे भीष्म विजयी हुये और परशुराम उनसे प्रसन्न होकर अपने आश्रम को लौट गये।

विचित्रवीर्य भीष्म की अनुमति से अच्छी प्रकार राज्य करने लगे। किन्तु युवावस्था मे ही क्षय रोग से पीड़ित होकर सन्तान-हीन वे इस असार संसार से स्वर्ग सिधार गये। माता सत्यवती और स्त्रियों को बड़ा शोक हुआ। कुरुवंश के लिये यह समय बड़ी चिन्ता का उपस्थित हुआ। महाराज शान्तनु ने जिस भय से दूसरा विवाह किया था- वह अब मूर्तिमान् हो सम्मुख आ खड़ा

हुआ। सत्यवती ने पुत्र-शोक को दमन कर भीष्म से कहा—"वत्स! यद्यपि बहुएँ गर्भवती हैं तथापि यह निश्चय नहीं कि उनसे पुत्र ही उत्पन्न हों। बिना पुत्र के हमारा वंश निर्मूल हो जायेगा और पितरों की पिण्डोदकक्रिया भी लुप्त हो जायेगी। अत. मेरी आज्ञा है कि अब तुम विवाह करो और अपना राज्याभिषेक कराओ।" भीष्म ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"माता मैंने जो प्रतिज्ञा की है उसका मैंने अब तक बराबर पालन किया है और भविष्य में भी मैं उसे कभी तोड़ने की इच्छा नहीं करता। प्रतिज्ञा भंग करके मै धर्म-भ्रष्ट हो नरकगामी बनूँगा। अतः मैं सत्य का परित्याग कदापि नहीं कर सकता।" सत्यवती भीष्म की दृढ़ प्रतिज्ञा-पालन और राज्यलोभ का परित्याग कर निःस्वार्थ-परार्थपरता देखकर परम सन्तुष्ट हुई। भीष्म ने उन्हें समझाया कि वंशनाश की चिन्ता नही करनी चाहिये। ईश्वर विचित्रवीर्य की गर्भवती स्त्रियों के द्वारा ही हमारे वंश की रक्षा करेंगे।

कालक्रम से विचित्रवीर्य की दोनों विधवा पत्नियों से एक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक का नाम धृतराष्ट्र और दूसरे का पाण्डु रक्खा गया। भीष्म ने दोनों बालकों का यथोचित लालन-पालन कर उन्हें राजकुलोचित शिक्षा दी। दुर्भाग्यवश धृतराष्ट्र जन्मांध थे। अत: भीष्म ने पाण्डु को राज्याधिकार दिया। पाण्डु नाममात्र के राजा थे। राज्य का सब कार्य भीष्म ही करते थे। धृतराष्ट्र का विवाह गांधार देशाधिपति सुबलराज की कन्या गान्धारी से हुआ था और उससे इनके दुर्योधनादि सौ पुत्र और एक कन्या

उत्पन्न हुई। पाण्डु के दो विवाह हुए। एक कुन्तिभोज की कन्या कुन्ती से और दूसरा मद्रराज की कन्या माद्री के साथ; और इन दोनों पत्नियों से इनके युधिष्ठिरादि पांचों पुत्र हुए जो पाण्डव नाम से प्रसिद्ध हुए। पाण्डु की मृत्यु हो जाने के पश्चात् भीष्म ने धृतराष्ट्र को राज्यसिंहासन पर बैठाया और सब राजकुमारों की भली भांति देखरेख करने लगे। जिस प्रकार और जिस स्नेह के साथ उन्होंने विचित्रवीर्य और तत्पश्चात् धृतराष्ट्र और पाण्डु का पालन किया था उसी प्रकार अब वे पितृ-विहीन युधिष्ठिरादि का भी प्रतिपालन करने लगे। अनेक बार विपत्ति पड़ने पर भी वे अपनी कर्तव्य बुद्धि से कभी विचलित न हुए।

युवावस्था सम्पन्न होने पर युधिष्ठिर को उन्होंने युवराज बनाया और स्वयं राज्य कार्य से पृथक् हो गये। भीष्म ने राज्य-व्यवस्था बहुत ही सुन्दर बनायी थी किन्तु धृतराष्ट्र के पुत्रों की दुष्टता के कारण शीघ्र ही उसके नाश के लक्षण दिखाई देने लगे। पाण्डवों और कौरवों में बचपन से ही द्वेष उत्पन्न हो गया था और वह दिन पर दिन बढ़ता ही जाता था। भीष्म ने कौरवों को सब प्रकार से समझाया बुझाया, पर वे न माने। धृतराष्ट्र को भी उनका कहना बुरा लगता था अतः वे अधिक नहीं कहते थे। पीछे कौरवों के अत्याचार से दुःखित हो पाण्डवों ने आधा राज्य मांगा। भीष्म ने कौरवों को समझाया कि आधा राज्य देदें पर वे किसी भी प्रकार ऐसा करने को राजी न हुए। अन्त में महाभारत युद्ध की रचना का प्रसंग उपस्थित हुआ। पाण्डव धर्म पथ

पर आरूढ़ थे अतः भीष्म सदैव उन्हीं की विजय कामना करते थे; किन्तु उन्होंने आजीवन कुरुराज की प्रजा के रूप में रहने की प्रतिज्ञा की थी, अतः वे स्वयं कौरवों के पक्ष में रहे। युद्ध में कौरवों की सेना के सेनापति बनकर दस दिन तक उन्होंने घोर युद्ध किया और बल वीर्य व पराक्रम का प्रदर्शन किया। अन्त में अर्जुन के बाणों से घायल होकर वे धराशायी हो गये। कार्तिक कृष्णा अष्टमी को वे रण में भूमि पर गिरे थे। उस समय सूर्य दक्षिणायन था। निदान सूर्य के उत्तरायण होने तक अपने पिता के दिये हुए इच्छामृत्यु वरदान के अनुसार भीष्म ने अपने प्राणों का अवरोध कर लिया। पीछे उत्तरायण आने पर उन्होंने अपने शरीर का परित्याग कर दिया। जब वे शरशय्या पर पड़े थे तब महाभारत के युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर उनके पास गये। बन्धुनाश से युधिष्ठिर के अन्तःकरण को बड़ा दुःख हुआ था। उसे दूर करने के लिये भीष्म ने उन्हें अनेक प्रकार से धर्मोपदेश कर उनके चित्त को शान्त किया।

भीष्म पितामह ने अपने जीवनमें जो कार्य किये हैं वे संसार के लिये आदर्श हैं। उनके समान सत्यप्रतिज्ञ, धर्मनिष्ठ और पितृभक्त महापुरुष इस संसार में दूसरा कोई नहीं हुआ। पिता के प्रति पुत्र का क्या-कर्तव्य है, पिता को सन्तुष्ट और प्रसन्न करने के लिये पुत्र को कैसा और कितना त्याग करना चाहिये भीष्म पितामह का चरित्र और उनकी लोकातीत कार्यप्रणाली इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उन्होंने सत्य की मर्यादा स्थापित की और

असाधारण वीर होते हुए भी दूसरे की साधारण इच्छा और वह भी अनावश्यक इच्छा की पूर्ति के लिये आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का प्रण लेकर वैराग्य और चित्तसंयम को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। यही कारण है कि आज वे संसार के पितामह के रूप में प्रसिद्ध होकर अपने यशः शरीर से सदा के लिये अमर हैं।

५—महाराणा प्रताप

भारतीय इतिहास में चित्तौड़ की प्रतिष्ठा अद्वितीय है। नैतिक दृष्टि से इस वीर भूमि का उतना ही गौरव है जितना धार्मिक दृष्टि से प्रयाग, मथुरा आदि का। यह आदर्श भूमि राजपूताना में मेवाड़ राज्य के अन्तर्गत है। कुछ समय के अतिरिक्त यह स्थान हिन्दुओं के ही आधिपत्य में रहा है। जीवन पर खेल जाने वाले साहसी सूर्यवंशी क्षत्रियों से सुशोभित चित्तौड़ अब भी अपना मस्तक उठाये हिन्दू-कुल-कमल-दिवाकर महाराणा प्रताप की अक्षय कीर्ति-ध्वजा फहरा रहा है।

महाराणा प्रताप के पिता उदयसिंह के शासन-काल में चित्तौड़ की दशा कुछ अस्तव्यस्त सी हो गई थी। अकबर की यह हार्दिक अभिलाषा थी कि वह किसी न किसी प्रकार चित्तौड़ पर विजय प्राप्त कर ले। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने वीर भूमि पर एक बड़ी भारी सेना लेकर चढ़ाई कर दी। भोग विलास मे रत राजा अपनी आत्मा रूपी प्रजा की रक्षा करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता। राणा ने गढ़ त्याग दिया। परन्तु जननी जन्मभूमि पर मर मर कर जीवित रहने वाली वीरात्माओं में कभी कायरता की कालिख नहीं लगती है; राजपूत सरदारों ने चित्तौड़ की रक्षा

का भार अपने ऊपर ले लिया। यह वह समय था जब वृद्ध वीर धर्म और सेवा के नाम पर बलि वेदी पर चढ़ जाते थे और युवक हँसते हँसते मातृभूमि के काम आया करते थे। सती-साध्वी वीराङ्गनायें अपने प्राणों की आहुति देकर जौहर यज्ञ करती थीं और वीर साहसी राजपूत केसरिया बाना धारण कर मातृभूमि की जय बोलते हुये मैदान में लोहा लिया करते थे। परन्तु 'दिनन के फेर से सुमेर होत माटी को।' यद्यपि राजवंशीय सरदार जयमल और षोडशवर्षीय वीर बालक पत्ता ने अद्भुत शक्ति, साहस और वीरता का परिचय दिया तथापि एक चना भाड़ को नही फोड़ सकता। वे वीरगति को प्राप्त हुए, परन्तु आज भी अमर है। मारवाड़ मे अब तक जयमल पत्ता की वीर गाथाये गाई जाती है। राजस्थान के मुकुटमणि चित्तौड़ को अर्जुन के मुकुट की भांति कालरूपी कर्ण के सर्पमुख बाण अकबर ने छिन्न-भिन्न कर दिया।

इस लड़ाई के चार वर्ष पश्चात् ही उदयसिंह की आत्मा ने उस कलङ्कित शरीर का परित्याग कर दिया परन्तु माता का मुख उज्वल कर देने वाला एक उज्वल और अमूल्यरत्न—आदर्शभूमि का आदर्श—प्रतापी प्रताप भारत भूमि को भेंट कर गया और उसी प्रातःस्मरणीय प्रताप के प्रताप से आज भी उदयसिंह के नाम पर उसी की बसाई हुई उदयपुर भूमि उस कालिमा को धो रही है।

प्रताप राजसिहासन पर बैठे परन्तु परिस्थितियां कुछ और ही

थी। चित्तौड़ पर सूर्यमुखी राजपूती पताका नहीं थी और न उसे फहराने के साधन ही थे। एक ओर वीरव्रती प्रताप और कुछ गिने-चुने प्राणों पर खेल जाने वाले वीर राजपूत और दूसरी ओर असंख्य बादशाही सेना एवं अनेकों जयचंद राजपूत राजे थे। केवल इतना ही नहीं राणा का भाई शक्तिसिंह भी विभीषण होकर एक भीषण आपत्ति बना हुआ था। न धन था, न जन समुदाय, परन्तु फिर भी प्रताप का मन सुमन के समान विकसित था। उसमें राणा सांगा की वीरता थी, राजपूतों की आन थी, राजर्षियों का तेज था, आदर्शभूमि का आदर्श था और भक्ति की शक्ति थी—यह सब कुछ था। निराशा में भी आशा रखने वालों का ही नाम संसार में स्वर्णाक्षरों में अंकित होता है। किनारे की कड़ी चट्टानों को देखकर ज्वार भाटा ठण्डा नहीं हो जाता है वरन और भी वेग से टकरा कर उनको चकनाचूर कर देता है। प्रताप ने प्रतिज्ञा की "जब तक चित्तौड़ का मस्तक ऊँचा न कर दूँगा, मैं सुख से न बैठूँगा। माता बन्धन में हो और राजपूत सुख-शय्या पर सोवे यह नही हो सकता। अस्तु, चित्तौड़ का पुनरुद्धार किये बिना मैं गुदगुदे गद्दों पर न सोऊंगा। जब तक हमें विजय-धन प्राप्त न हो स्वतन्त्रता के निधन में मैं सोने चाँदी के बर्तनों में भोजन नहीं करूंगा। माता की इस भग्न-मूर्त्ति के रहते मैं कभी दाढ़ी मूँछों पर कैंची न लगवाऊंगा।" सरदारों ने प्रताप-प्रतिज्ञा सुनी। सबने तलवारों पर हाथ रख लिया, सिर झुकाकर प्रणाम किया और प्रण किया। प्रताप ने उदयपुर छोड़ कर कमल-

मीर को अपना निवास-स्थान बनाया। महाराणा और उसके साथी या तो दुर्ग पर रहते थे या मैदानों में डेरा डालते थे। इस प्रकार महलों का परित्याग कर दिया गया।

दैव की गति, दिनों का फेर, भारत का भाग्य अथवा आपस की फूट कुछ ही हो राजपूतों की शक्ति विरक्त सी हो गई। अनायास नई नई आपत्तियां आने लगी। दिन पर दिन वीरों की संख्या कम होने लगी। यहां तक कि आपस की बातों ही में महाराणा प्रताप के सगे भाई शक्तिसिंह की भी उनसे अनबन हो गई। वह विभीषण बनकर अकबर से जा मिला। कहावत प्रसिद्ध है 'घरका भेदी लंका ढावे'। प्रतापको प्रथम आघात हुआ। इसके पश्चात् धीरे धीरे प्रताप के बहुत से संबंधियों और मित्रों ने भी उसका साथ छोड़ दिया। परन्तु दुःखों की ताप से प्रताप रूपी स्वर्ण की कान्ति कम नहीं हुई और उसके वीर सरदारों ने या सच्चे राजपूतों ने उसका साथ नहीं छोड़ा!

अनेकों नरेश देश के निर्मल चन्द्र-यश में कायरता का कलङ्क लगा चुके थे। किसी ने अकबर की दासता स्वीकार कर ली थी तो किसी ने मित्रता। इन्हीं मे आमेर के महाराजा मानसिंह भी थे। राजा मानसिंह ने अकबर के सेनापति होकर उसके लिये बहुत से देश जीते थे। एक बार दक्षिण में शोलापुर जीत कर दिल्ली जाते समय मानसिंह महाराणा के अतिथि हुये। भारतीय सभ्यता के उच्च आदर्श-परिचायक महाराणा ने उनका यथोचित स्वागत और सम्मान किया, परन्तु भोजन करने के समय राज-

कुमार अमरसिंह ही सम्मिलित हुए। यद्यपि मानसिंह राना के सम्मिलित न होने का कारण समझ गया था तथापि उन्होंने उनके न आने का कारण जानना चाहा। अमरसिंह ने केवल इतना कहकर टाल दिया कि 'उनके सिर मे दर्द है।' परन्तु अपमान के तीरने वीर मानसिंह के हृदय को चीर दिया था। अतः उन्होंने कहा कि मै शीघ्र ही महाराणा के सिर दर्द की दवा ले कर लौटूँगा। राणा ने यह शब्द सुन लिये। उन्होने वीरोचित उत्तर दिया—"अपने कुल की मानमर्यादा छोड़ देने वाले, माता के मुख पर कालिमा पोतने वाले, कायर, कपूत, राजपूत-कलङ्क सिर दर्द ही हैं। उनके साथ बैठकर प्रताप भोजन नहीं कर सकता।" मानसिंह के हृदय ने मान लिया कि प्रताप प्रताप ही है परन्तु अपमान की चिनगारी से उसका मन रूपी बन दहक उठा।

दिल्ली पहुँचते ही अकबर को मानसिंह ने सब हाल सुनाया। दो बादलों की रगड़ से जैसे विद्युत्-द्युति पैदा हो जाती है वैसे ही अकबर के हृदयघन में एक लहर दौड़ गई। आज्ञा-पत्र लिखा गया और शाहज़ादे सलीम के सेनापतित्व मे एक विशाल सेना सजाई गई। मुट्ठी भर राजपूतों के लिये यह असंख्य सेना बादलों की भांति उमड़ कर मेवाड़-सूर्य को छिपाने चली। जौलाई सन् १५७६ ई० को हल्दीघाटी की प्रसिद्ध लड़ाई हुई। यही स्थान महाराणा प्रताप का अन्तिम सुरक्षित स्थान था। रणकेसरी राजपूत सामने आ डटे। घोर युद्ध प्रारम्भ हुआ। चेतक पर चढ़े हुए प्रताप के आगे आने की किसी की ताप नही

होती थी। राजपूतों का केवल एक ही लक्ष्य था। "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्य से महीम्।" "जीते रहे तो राज्य लेंगे मर गये तो स्वर्ग में!" भारत भूमि के लिये जीवन को हथेली पर धर लेने वाले थोड़े से राजपूत, असंख्य सेना के बीच में इस प्रकार समा गये जैसे घनमण्डल में चञ्चल चपला। किन्तु फिर भी यह चपला रूप राजपूत शक्ति जहां भी चमक कर गिरती थी वहां दूर दूर तक मैदान साफ होजाता था। महा-बाहु प्रताप ने चारों ओर चेतक दौड़ार कर सिर दर्द के कारण की खोज की परन्तु जयद्रथ की भांति कौरव रूपी बादशाही सेना ने उसे सुरक्षित रखा हुआ था। शाहज़ादे सलीम का हाथी सामने पड़ते ही प्रताप ने चेतक को एड़ लगाई। लगाई। चतुर चेतक ने सलीम के हाथी पर अपनी टापे जमा दीं। कालस्वरूप रक्तरञ्जित रक्तवर्ण प्रताप ने एक ही हाथ में महावत का काम तमाम कर दिया। हाथी भाग खड़ा हुआ और इस प्रकार शाहज़ादे की जान बची। सारी मुगल सेना अकेले प्रताप पर टूट पड़ी। प्रताप ने विचित्र रण-कौशल दिखाया। असंख्य शत्रुओ में घिर जाने पर भी प्रताप ने धैर्य नहीं छोड़ा। किसी पर चेतक सवार होता था और किसी पर चेतकसवार सवार होकर उसे पीस देता था। किसी पर तलवार का वार होता था और कोई भाले का शिकार होता था। राणा के ऊपर सूर्यध्वजा फहरा रही थी और उसी को देख देखकर शत्रु उस अकेलेपर ही टूट रहे थे। स्वामिभक्त राजपूत इस क्षणभंगुर जीवन को ईश्वररूप राजा

के लिये अर्पण करने में ही अपना जन्म सफल समझते हैं। झाला के सरदार ने राणा को घिरा हुआ देख कर सूर्यध्वज अपने हाथ में ले लिया और शत्रु सेनाको चीरता हुआ दूसरी ओर निकल गया। स्वामि-भक्त सरदार पहिले से ही घायल हो चुका था, फिर भी उसने शत्रुओं को दूर तक खदेड़ा। रणाङ्गण में सोते सोते भी उसने बहुत से शत्रुओं को धराशायी कर दिया।

इधर रक्त में डूबे हुए प्रताप अकेले ही बचे जा रहे थे। ऊपर से नीचे तक शरीर में सहस्रों घाव थे। चेतक प्रायः मृततुल्य हो चुका था। फिर भी एक बार फिर वीर भूमि की रक्षा का संकल्प करके राणा एक ओर को चल दिये। दो मुगल सैनिकों ने उन्हें पहचान लिया और उनके पीछे हो लिये। एक नदी को पार करने के लिये राणा ने चेतक के एड़ लगाई। अन्तिम समय भी चेतक न चूका। राणा को पार तो पहुँचा दिया, परन्तु स्वयं भी इस दुःखमय संसार-सागर से पार पहुँच गया। जिसकी रगों मे शुद्ध राजपूती रक्त बह रहा हो वह इस दृश्य को देखकर तलवार न सूत ले, यह नहीं हो सकता। राणा का भाई शक्तिसिंह, जिसने मुगलों को राणा का पीछा करते देख लिया था और स्वयं भी उनके पीछे हो लिया था, राणा को इस अवस्था में देख कर न रह सका। उसने एक ही हाथ में दोनों मुगलों को मौत के घाट उतार दिया। एक ओर बिछड़े हुये भाई के मिलन का हर्ष और दूसरी ओर जीवनसङ्गी चेतक का वियोग था। शक्तिसिंह ने प्रताप को अपना घोड़ा अर्पण किया और उन्हें प्रणाम किया।

सहृदय राणा ने भी एक ही दृष्टि में उसे क्षमा कर दिया। शक्तिसिंह मुगलों के शिविर की ओर चल दिये और महाराणा चित्तौड़ की रक्षार्थ वीरों की माला गूॅथने के लिये दूसरी ओर चल दिये।

इसके पश्चात् अनेक लड़ाइयां हुई परन्तु बिना जन-धन कब तक निर्वाह हो सकता था। प्रताप ने पर्वतों की शरण ली। आज यहां हैं तो कल वहां। ऊँचे महलों में रहनेवाला महाराणा प्रताप अपनी महाराणी और छोटे २ बच्चों को लिये पहाड़ों और कन्दराओं में विचरण करता था। पेट भर भोजन मिलना तो दूर रहा रूखी-सूखी रोटियां भी कभी कभी कठिनाई से प्राप्त होती थी। अन्यथा घास की ही रोटी खाकर सन्तोष करना पड़ता था। इतने पर भी दृढ़व्रती प्रताप अपने प्रण पर अटल रहा। धीर, वीर, गम्भीर और प्रतापी आत्मायें अपने कष्ट को कष्ट नहीं समझती, परन्तु दूसरे का दुःख और वह भी अपने कारण उनसे नही देखा जाता।

एक बार बालिका राजकुमारी की रोटी एक वनबिलाव ने छीन ली। राजकुमारी के रोने चिल्लाने की ध्वनि राणा ने सुनी। प्रचण्ड अग्नि सहन न करके जैसे बड़े बड़े अटल पर्वत भी फूट निकलते हैं उसी प्रकार राणा का हृदय भी इस दृश्य से द्रवीभूत हो गया और उसमें से सन्धि के प्रस्ताव स्वरूप लावा निकलने लगा। स्त्री और सन्तान की यह दुर्दशा देख कर राणा ने अकबर के पास सन्धिपत्र लिख भेजा।

जिस प्रकार चिन्तामणि हाथ लगजाने से कामनाप्रिय मनुष्य

मेरी तो धारणा है कि इस समय भी आपको ताप होगा।
क्या मेरी धारणा को कह निज-मुख से आप सच्ची करेंगे ?
या पक्के स्वर्ण को भी सचमुच अब से ताप कच्चा करेंगे ॥८॥

❀ ❀ ❀ ❀

दो बाते पूछता हूं, अब अधिक नहीं हे प्रतापी प्रताप !
आज्ञा हो, क्या कहेंगे अब अकबर को तुर्क या शाह आप ?
आज्ञा दीजे मुझे जो उचित समझिए, प्रार्थना है प्रकाश—
मूंछे ऊँची करूँ या सिर पर पटकूं हाथ होके हताश ॥६॥

इसके उत्तर में राणा प्रताप ने भी पृथ्वीराज को एक पत्र लिखा था जिसके कुछ पद्य इस प्रकार हैं:—

दिया पत्र-द्वारा नव बल मुझे आज तुमने;
बचा ली बाप्पा के विमल कुल की लाज तुमने।
हुआ है आत्मा का यह प्रथम ही बोध मुझको
दिखाई देता है न इस ऋण का शोध मुझको ॥ १ ॥

❀ ❀ ❀ ❀

तुम्हारी बातें हैं ध्वनित इस अन्तःकरण में,
पुनः आया सा हूं अखिल-पति की मैं शरण में।
यही आशीर्वाणी अब तुम मुझे दो हृदय से
न छोड़ूँ जीते जी यह व्रत किसी विघ्न भय से ॥ २ ॥
यही आकांक्षा है, जब तक रहूं देह-रथ में
किसी भी बाधा से विचलित न होऊँ स्वपथ में।

जिसे आत्मा चाहे सतत उसका साधन करूँ;
उसी की चिन्ता में रह कर सदा चिन्तित मरूँ ॥ ३ ॥

तुम्हारी वाणी है अमृत, कवि जो हो तुम अहो!
जिया हूं मानो मैं मर कर पुनः पूर्व सम हो ।
सहूँगा दुःखों को सतत फिर स्वातन्त्र्य-सुख से;
करूँगा जीते जी प्रकट न कभी दैन्य मुख से ॥ ४ ॥

तुम्हारा 'पत्ता' है जब तक (सहें क्यों न विपदा)
करो मूँछे ऊँची तब तक सखे पीथल [1] सदा ।
सुनोगे तुर्कों को न तनु रहते शाह हम से
वहीं—प्राची में ही रवि उदित होगा नियम से ॥ ५ ॥

राणा ने किसी अन्य स्थान पर अपनी पताका फहराने का निश्चय किया। घोड़ों की जीन कसवा दी गई और कूच का डंका बजा। "रत्नगर्भा वसुन्धरा रत्न विहीन हो जाये, यह कैसे हो सकता है।" यह सुनते ही कि मारवाड़मुकुट प्रताप धन-जन के अभाव से किसी दूसरे स्थान को अपनाने जा रहे हैं, मेवाड़ का प्रधान कोषाध्यक्ष भामासाह अपनी अतुल सम्पत्ति लेकर प्रताप की सेवा में आ उपस्थित हुआ, और बोला कि "महाराणा! यह सारा धन और मैं आपका ही हूं इसे स्वीकार कीजिये।" कौन कुछ लाया है और कौन कुछ ले जायगा। मातृ-भूमि, परमार्थ और वीरात्माओं की सेवा में लगा हुआ धन ही धर्म-धन होकर मनुष्य के साथ जाता है। आज भी दानवीर

उछल पड़ता है अथवा निर्धन को कुबेर का कोष मिल जाने से जैसे उसका हृदयपुष्प खिल जाता है, वैसे ही अकबर इस सन्धि पत्र को पाकर फूला न समाया। परन्तु बीकानेर-नरेश पृथ्वीराज ने इस पत्र को आंखों से देख कर भी विश्वास नहीं किया, क्योंकि उसका विश्वास था कि चाहे सागर सूख जावे और हिमालय विदीर्ण हो जाये परन्तु दृढ़व्रती महाराणा प्रताप एक सच्चा राजपूत मातृभूमि की सेवा से विचलित नहीं हो सकता। पृथ्वीराज ने इस विषय की यथार्थता मालूम करने के लिए प्रताप को एक पत्र लिखा। जिसका कुछ अंश कविवर मैथिली शरण के पद्यानुवाद में से हम यहां उद्धृत करते हैं।

स्वस्ति-श्री स्वाभिमानी कुल-कमल तथा हिन्दुओं सूर्य्य सिद्ध,
शूरों में सिंह सु-श्री शुचि-रुचि-सुकृती श्री प्रताप प्रसिद्ध !
लज्जाधारी हमारे कुशलयुत रहें आप सद्धर्म-धाम,
श्री पृथ्वीराज का हो विदित विनय से प्रेमपूर्ण प्रणाम ॥१॥

हा ! कैसा हो रहा हूं इस अवसर मैं घोर-आश्चर्य-लीन,
देखा है आज मैंने अचल चल हुआ, सिन्धु संस्था-विहीन !
देखा है, क्या कहूँ मैं निपतित नभ से इन्द्र का आज छत्र !!
देखा है, और भी हां अकबर कर में आपका सन्धि-पत्र !!!

❀ ❀ ❀ ❀

खोके स्वाधीनता को अब हम सब हैं नाम के ही नरेश;
ऊँचा है आपसे ही इस समय अहो ! देश का शीर्ष देश।

जाते हैं क्या झुकाने अब उस सिर को आप भी हो हताश,
सारी राष्ट्रीयता का शिव ! शिव ! फिर तो हो चुका सर्वनाश !!!

❀ ❀ ❀ ❀

क्या हैं यह नैन मेरे कुछ विकृत, कि हैं ठीक ये पत्र-वर्ण,
देखूँ, है क्या सुनाता वह विधि मुझको व्यग्र हैं हाय ! कर्ण।
रोगी हों नेत्र मेरे, वह लिपि न रहे आपके लेख जैसी;
हो जाऊँ दैव चाहे बधिर पर सुनूं बात कोई न वैसी ॥४॥

❀ ❀ ❀ ❀

है सच्ची धीरता का बस समय यही हे महाधैर्यशाली !
क्या विद्युद्वह्नि का भी कुछ कर सकती वृष्टि-धारा-प्रणाली ?
हों भी तो आपदायें, अधिक अशुभ हैं क्या पराधीनता से ?
वृक्षों जैसा झुकेगा अनिल निकट क्या शैल भी दीनता से ॥ ५॥

❀ ❀ ❀ ❀

"राना ऐसा लिखेंगे, यह अघटित है, की किसी ने हँसी है;
मानी हैं एक ही वे बस नस-नस में धीरता ही धंसी है।"
यों ही मैंने सभा में कुछ अकबर की वृत्ति है आज फेरी;
रक्खो चाहे न रक्खो अब सब बिधि है आपको लाज मेरी ॥६॥
हो लक्ष्य-भ्रष्ट चाहे कुछ पर अब भी तीर है हाथ ही में;
होगा हे वीर ! पीछे विफल संभलना, सोचिये आप जी में।
आत्मा से पूछ लीजे कि इस विषय में आपका धर्म क्या है;
होने से मर्म-पीड़ा समझ न पड़ता कर्म दुष्कर्म क्या है ॥७॥
क्या पश्चात्ताप पीछे न इस विषय में आप ही आप होगा ?

भामासाह अपनी उस असंख्य सम्पत्ति को लिये अमरपुर में अक्षय कीर्ति-सुख उपभोग कर रहे हैं।

वसन्त के आते ही जैसे पपीहा पीहू २ कर उठता है उसी प्रकार भामासाह की सहायता पाकर राजपूतों की रणभेरी बज उठी। प्रताप के सैनिकों ने बादशाही सेना के छक्के छुड़ा दिये। एक वर्ष के भीतर भीतर ही प्रताप ने १२ दुर्ग जीत कर मारवाड़ पर अधिकार कर लिया और आमेर को तहसनहस कर मान-सिंह का मान भंग कर दिया।

अन्तिम समय तक प्रताप ने तलवार न छोड़ी। वह दृश्य आज भी वीरात्माओं में मंत्र फूंक देने वाला है। महाराणा की आत्मा निष्कण्टक, अव्यय परमधाम में जाना चाहती है परन्तु मातृ-भूमि का प्रेम नही जाने देता। मृत्यु-शय्या के चारों ओर राजपरिवार के लोग, मन्त्री और सरदार सब बैठे हुये हैं। एक सरदार ने महाराणा से पूछा "आपको क्या चिन्ता है?" महाराणा ने उत्तर दिया—"मैंने जिस भूमि की रक्षा अपना तन, मन और धन न्यौछावर करके की है, वन-वन में फिर कर भी जिस मेवाड़ का गौरव बनाये रक्खा है, उसकी रक्षा का विश्वास और चित्तौड़-विजय का आश्वासन दिलाते ही मै शान्तिपूर्वक प्रस्थान करूँगा।" राजपूत सरदारों ने एक स्वर में प्रण किया—"जब तक शरीर में श्वास है हम स्वतन्त्रता न जाने देंगे और आपके प्रण का पालन करेंगे।"

एक बार वेग से प्रज्वलित होकर वह जीवन दीपक बुझ गया परन्तु आज भी प्रताप की प्रतापी अमर आत्मा मृत्यु-तुल्य भारतीयों में जीवन सञ्चार कर रही है। आत्म-सम्मान और मातृ-भूमि के गौरव की रक्षा में प्राणों का उत्सर्ग कर देने वाले इस वीर पुरुष का चरित्र संसार में अनुकरणीय है।

❀ ❀ ❀

६—नैपोलियन बोनापार्ट

संसार में जिन महापुरुषों ने आत्म-सम्मान और स्वदेश की मान-मर्यादा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये हॅसते हॅसते अपने जीवन को बलिवेदी पर चढ़ा दिया है, स्वतंत्रता के महायज्ञ में प्रसन्नता पूर्वक जिन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी है, जातीय और स्वदेशाभिमान से प्रेरित होकर देश प्रेम के उच्च शिखर पर आसीन हो शत्रुओं के प्रबल और भयङ्कर आघातों की तनिक भी चिन्ता न करके जीवन-पर्यन्त विपत्तियों से आक्रान्त होने पर भी जिन्होंने अपनी अद्भुत वीरता और साहस का परिचय दिया है—नैपोलियन बोनापार्ट का नाम उनमें परम समादरणीय है। नैपोलियन का जीवनचरित्र पराधीनता की बेड़ियों से जकड़े हुए देश के वृद्ध और तरुण पुरुषों के हृदय में स्वतंत्रता का मन्त्र फूंक देने वाला है, सोती हुई वीरात्माओं को जगाने वाला है और कर्त्तव्यपालन के उच्चादर्श का पाठ पढ़ाने वाला है।

इस महापुरुष का जन्म १५ अगस्त सन् १७६६ ई० को कार्सिका द्वीप के अजकूशिया नामक नगर में हुआ था। कार्सिका द्वीप पहिले इटली के आधिपत्य में था किन्तु नैपोलियन के जन्म

से केवल दो मास पूर्व ही उस पर फ्रांसीसियों का अधिकार हो गया था। यही कारण है कि इतिहास में नैपोलियन इटालियन न होकर फ्रांसीसी के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसके पिता चार्ल्स बोनापार्ट एक कुलीन तथा संपन्न व्यक्ति थे और कार्सिका के प्रसिद्ध वकीलों में उनकी गणना थी। नैपोलियन की माता लेटीशिया रामोलिनो भी एक वीराङ्गना और सुन्दरी स्त्री थी। इनके ग्यारह सन्तानें थीं जिनके साथ दोनों दम्पती बड़े आनन्द से जीवन व्यतीत किया करते थे। ग्रीष्म ऋतु में वे समुद्र तट के समीप-स्थित एक छोटे से ग्राम में एक अत्यन्त भव्यभवन में में निवास किया करते थे। जिस समय फ्रांसीसियों ने कार्सिका पर आक्रमण किया था तब देशप्रेम से प्रेरित होकर नैपोलियन के पिता चार्ल्सबोनापार्ट ने भी मातृ-भूमि की सेवार्थ युद्ध में भाग लिया था; किन्तु कार्सिका के पतन के अनन्तर वे कुछ समय तक अपने परिवार सहित आत्म-रक्षा के निमित्त इधर उधर भागकर गिरि कन्दराओं और उपत्यकाओं मे आश्रय लेते रहे। लेटीशिया उस समय गर्भवती थीं। प्रसव काल के समीप होने पर वे फिर अपने अजकुशिया वाले भवन मे आकर रहने लगे, वहीं इनके वीर नैपोलियन का आविर्भाव हुआ जो पीछे जगद्विख्यात महापुरुषों मे परिगणित हुआ।

नैपोलियन जब पांच वर्ष ही का था कि इसके पिता का स्वर्गवास हो गया, अतः माता लेटीशिया पर ही बच्चों के लालन-पालन और समस्त गृहस्थ के भारवहन का उत्तरदायित्व आ पड़ा। धीर

और साहसी व्यक्ति बड़ी से बड़ी विपत्तियों में भी अधीर होकर अपने कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुआ करते। लेटीशिया भी एक दृढ़हृदया और वीर स्त्री थी अतः पतिशोक से अत्यन्त सन्तप्त होने पर भी उसने अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभाने के लिये दृढ़संकल्प कर लिया। अपना अजकृशिया वाला घर छोड़कर अब वह एक ग्राम के साधारण से घर में रहने लगी। ग्राम की स्वच्छ वायु और चतुर्दिक् सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के बीच में सब बालक अपने शैशवकाल की क्रीड़ाओं में रत हो आनन्द से जीवन बिताने लगे।

नैपोलियन का स्वभाव बाल्यावस्था से ही बड़ा विचित्र था। अन्य बालकों की भांति आमोद प्रमोद में इसकी विशेष रुचि न थी। वह बहुधा घोड़े की सवारी और लड़ने व चढ़ाई करने आदि के खेलों में बहुत मन लगाता था। वीरों और युद्धसम्बन्धी कहानियों के सुनने में उसे बड़ा आनन्द मिलता था और इन्ही के कारण उसके हृदय में वीरोचित भावों का उदय हुआ था। वह बड़ा ही हठी, उग्रप्रकृति और चिड़-चिड़े स्वभाव का था। जिस बात पर अड़ जाता उसे पूरा करके ही छोड़ता। किन्तु अपनी माता का वह अनन्य भक्त था। माता पर उसे असाधारण विश्वास था और उसकी आज्ञापालन में सदैव तत्पर रहता था। माता की आज्ञा का वह कभी उल्लङ्घन नहीं करता था। बहुधा वह कहा करता था कि मुझमे वीरता, धीरता, सदाचरण और धर्मानुराग आदि जितने भी सद्गुण हैं यह सब माता की ही शिक्षा

और उपदेशों का परिणाम है। सन्माताओं के द्वारा ही सुपुत्रों की उत्पत्ति होती है। इसी उद्देश्य से उसने अधिकार प्राप्त करने पर अपने देश में स्त्री शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया था और उसके लिये बहुत सा धन भी व्यय किया था। दूसरों के दुःख से इस वीर का हृदय द्रवीभूत हो उठता था और उसे दूर करने के लिए यह सब प्रकार के कष्ट सहन करने को उद्यत हो जाता था। एक बार एक लड़के के अपराध का दण्ड नैपोलियन को भोगना पड़ा पर उसने बिना कुछ कहे सुने चुपचाप उसे सहन कर लिया और अपने मुख पर तनिक भी दुःख का चिह्न प्रकट न होने दिया। अपने जीवन में उसने अनेक दीन दुखियों की पर्याप्त सहायता कर अपनी उदारता का परिचय दिया था।

पांच वर्ष की अवस्था मे यह पाठशाला में प्रविष्ट हुआ और वहां पांच वर्ष पर्यन्त अध्ययन करने के पश्चात् पीछे दश वर्ष की अवस्था मे माता के आदेश से यह पैरिस चला गया। वहां वह ब्रायन विद्यालय मे प्रविष्ट हुआ जहां अधिकतर धनी पुरुषों के लड़के शिक्षा प्राप्त करते थे। नैपोलियन बड़ा ही विद्याव्यसनी और परिश्रमी था। व्यर्थ की बातों में अपना अमूल्य समय का एक क्षण भी व्यर्थ खोना उसे अच्छा नहीं लगता था। धनी विद्यार्थियों के विलासी जीवन से उसे बड़ी घृणा थी। इसी कारण नैपोलियन के साथ उन विद्यार्थियों का व्यवहार अच्छा न था। नैपोलियन के मन मे भी उनके प्रति अत्यन्त घृणा के भाव उत्पन्न हो गये थे।

अतः एकबार उसने क्रोध के आवेश में आकर कहा था कि 'यह फ्रांसीसी लड़के मुझे फूटी आंख भी नहीं सुहाते। यदि मेरा वश चला तो मैं इनसे अपने अपकार का पूरी तरह बदला लूंगा।' विलासिता से उसे इतनी चिढ़ थी कि एक बार फ्रांस का अधिपति होकर जब उसने ब्रायन विद्यालय का निरीक्षण किया और वहां के विद्यार्थियों को भोग विलास में रत देखा तो इस ने देश के अधिकारिवर्ग के पास एक आदेश-पत्र भेजा जिस में लिखा था कि 'इन लड़कों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिस से इन में वीरता और कर्तव्यपरायणता के भाव जागृत हों। इन्हें सब काम अपने हाथों से ही करने चाहिये। सुखार्थी और विलास में रत युवक समराङ्गण में कभी वीरता प्रदर्शन नहीं कर सकते।' नैपोलियन स्वय अपने जीवन में कभी उद्देश्यविहीन आमोद-प्रमोद अथवा उत्सवों में सम्मिलित नहीं हुआ।

बाल्यकाल से ही यह बड़ा एकान्त प्रेमी भी था। चुपचाप एकान्त में बैठकर कभी २ घण्टों तक यह नाना प्रकार की कल्पनाओं और विचारो में निमग्न रहता था। बहुधा यह अपने घर के सम्मुख एक पहाड़ी की गुफा मे बैठा करता था। यह गुफा आज भी 'नैपोलियन की गुफा' के नाम से प्रसिद्ध है। विद्यार्थी दशा में भी इसका अधिकांश समय एकान्त मे बैठकर विद्या-ध्ययन और ज्ञानोपार्जन में ही व्यतीत होता था। इतिहास राजनीति, विज्ञान और गणित आदि सभी विषयों में अच्छा

पाण्डित्य प्राप्त कर नैपोलियन शीघ्र ही अपने अध्यापकों का परमप्रीतिभाजन बन गया था। साथ ही अन्य विद्यार्थी भी अब इस के साथ सम्मान का व्यवहार करने लगे थे। गणित और इञ्जीनियरिङ्ग में इसको विशेष रुचि थी पर साहित्य के रसास्वादन मे भी इसे बड़ा आनन्द मिला करता था। इसने एक बार अपनी माता को एक पत्र मे लिखा था कि 'माता! कमर में तलवार और हाथ में होमर की कविता लेकर मैं भूमण्डल में अपना मार्ग निर्धारित कर सकता हूँ।' सन् १७८४ ई० में फ्रांस में कड़ाके का जाड़ा पड़ा। उस समय इसने खेल ही खेल में अपने बुद्धि कौशल से हिम का एक सेतु और गढ़ निर्माण कर अपनी उत्कृष्ट विज्ञानप्रियता और इञ्जीनियरिङ्ग के ज्ञान का परिचय दिया था। विद्यार्थियों को दो दलों में विभक्त कर उसने उस दुर्ग पर आक्रमण और उस से उसकी रक्षा करने का खेल भी रचा। इस युद्ध के अभिनय में उसने अपने भावी दृढ़ नेतृत्व और वीर सैनिक होने का पूर्ण आभास दे दिया था। अपने सहपाठियों के साथ इसका व्यवहार बड़ा ही सुन्दर था। भेद भाव तो इसे छू तक नही गया था। यह कहा करता था कि 'वंशगौरव कोई चीज़ नही है, प्रतिभा का मार्ग सब के लिये सर्वत्र समानरूप से खुला हुआ है।' सन् १७७६ से १७८५ तक इस ने ब्रायन विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। अवकाश में बहुधा यह अपने देश मे आया करता था और वहां के पार्वत्य प्रदेशों तथा उपत्यकाओं में भ्रमण कर प्राकृतिक सौन्दर्य के निरीक्षण से आनन्द प्राप्त करता था।

नैपोलियन बड़ा ही स्वतन्त्रता-प्रिय था। देश-प्रेम उसमें कूट कूट कर भरा था। अपने देश के वीरों के प्रति उसे बड़ी श्रद्धा और भक्ति थी। १७ वर्ष की अल्पायु में ही यह सेना में भर्ती हो गया। उस समय इसका वेतन अधिक न होने से इसे बहुधा व्यय की तंगी रहती थी। तथापि इसने कभी चिन्ता न की और मितव्ययिता के साथ निर्वाह करता रहा। सैनिक विभाग में नियुक्ति होने के समय जब इसकी परीक्षा ली गई थी तो परीक्षकों को इसके उत्तर सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ था। उस समय उन में से एक ने कहा था कि 'यह बालक चरित्र और वंश में वस्तुतः कार्सिकन है। यदि भाग्य अनुकूल हुआ तो यह भूमण्डल में प्रसिद्धि प्राप्त करेगा।' आत्मप्रतिष्ठा और कर्तव्यज्ञान की वह साक्षात् मूर्ति था। जब एक समय आस्ट्रिया के राजा ने उसके साथ अपनी कन्या का पाणिग्रहण करने का विचार प्रगट किया तो देश के अनेक लोगों में उसे उच्चवंशीय सिद्ध करने के लिये विवाद उठ खड़ा हुआ। नैपोलियन को जब इस बात का पता चला तो उसने बड़ी निर्भीकता से उत्तर दिया कि "इटली के किसी स्वेच्छाचारी कुलीन अधिपति होने की अपेक्षा मैं एक साधारण साधु व्यक्ति का वंशधर होना अपने लिये अधिक सम्मान और गौरव का हेतु समझता हूँ। मै स्वयं ही अपना गौरव प्राप्त करूंगा और फ्रासीसी जाति मुझे उच्च उपाधि से विभूषित करेगी।"

सन् १७८५ में वेलेंस की प्रजा मे कुछ अशान्ति फैल गई

थी। नैपोलियन सर्वप्रथम वही शान्तिरक्षार्थ सेना के साथ भेजा गया। अपनी वीरता और साहस के कारण उसने शीघ्र ही उन्नति करली और सेना में एक लेफ्टिनेण्ट के पद पर नियुक्त हो गया। सन् १७८६ ई० में यह अवकाश लेकर अपने देश कार्सिका को लौट आया और अवकाश का सारा समय इसने पठन-पाठन और ईश्वराराधन में व्यतीत किया। फ्रांस में इस समय राजकीय और प्रजातन्त्रवादी दो दल उत्पन्न हो गये थे जिनमें राजसत्ता और शासन-शक्ति को हस्तगत करने के लिये परस्पर विरोध उठ खड़ा हुआ। नैपोलियन प्रजातन्त्र का पक्षपाती था। अतः वह उस दल का प्रधान नेता बन कर देश की राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगा। मदान्ध शासको के अन्याय और अत्याचार से प्रजा को पीडित देख कर उसका हृदय क्षुब्ध हो उठता था। निदान उसने उसका विरोध करने का बीड़ा उठाया और देशभर मे अपनी ओजस्विनी वक्तृताओं द्वारा धूम मचादी। सेलिसट नामक अपने एक शत्रु की रिपोर्ट पर उसे पकड़ लिया गया किन्तु न्यायालयके द्वारा निर्दोपी प्रमाणित होने पर वह छोड़ दिया गया। सन् १७६२ ई० में फ्रांस की प्रसिद्ध राज्यक्रान्ति हुई। उस समय एक भयङ्कर विद्रोहकी ज्वाला धधक उठी। सर्वत्र बर्बरता और क्रूरता का नग्न ताण्डव होने लगा। विद्रोही प्रजा ने अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो राजप्रासाद पर आक्रमण कर दिया और राजकीय रक्षकवर्ग को मार कर राजा रानी को राज भवन से बाहर निकाल दिया तथा राजप्रासाद को लूट लिया। नैपोलियन

यह दृश्य देखकर बड़े धर्म-संकट में पड़ा। एक ओर शासक-वर्ग के अत्याचारों से उसे घृणा और प्रजा के अधिकारों से प्रेम था, दूसरी ओर वह अशिक्षित और विवेकहीन प्रजा के द्वारा होने वाली इस क्रूरता से भी अत्यन्त असन्तुष्ट था। बहुत सोच विचार के पश्चात् मूर्ख जनता के हाथ में राजसत्ता की बागडोर समर्पित करना उचित न समझ कर उसने शिक्षित और गुणी उच्च वंशजों का पक्ष लिया। प्रजा इस समय इतनी उत्तेजित हो गई थी कि उसने फ्रांस के राजा लुई को फांसी पर चढ़ा दिया और रानी को भी मृत्यु की भेंट कर दिया।

नैपोलियन इस समय कार्सिका चला आया था। यहां आकर उसने जातीय दल के नाम से एक सेना का संगठन किया और स्वयं उसका नायक बन गया। पायोली नाम का इसका एक मित्र था। उसकी इच्छा थी कि 'कार्सिकाद्वीप' अंग्रेज़ों को सौंप दिया जाय। परन्तु नैपोलियन ने उसके मत का विरोध किया जिससे पायोली उसका शत्रु बन गया और उसने अंग्रेज़ों की सहायता से अजकूशिया पर आक्रमण कर वहां का दुर्ग विजय कर लिया। नैपोलियन के पास इतनी सेना न थी जो अंग्रेज़ों का सामना करता; अतः इसने वहां से अपनी सेना हटाकर एक जहाज़ पर शरण ली। तदनन्तर वहां से यह अपने परिवार सहित मार्सेल्स चला गया। कुछ समय पश्चात् कार्सिका के पुनः स्वतन्त्र हो जाने पर वह एक बार फिर स्वदेश लौटा और अपने मातृ-भूमि के प्रेम का परिचय दिया।

फ्रांसका विद्रोह अभी शान्त न हुआ था। इंग्लैण्ड और स्पेन आदि फ्रांस की राज्यश्री का इस प्रकार अधःपतन देखकर उस पर अपना अधिकार करने की इच्छा करने लगे। इस अवसर का लाभ उठाकर उन्होंने सम्मिलित रूप से फ्रांस पर आक्रमण करने का विचार किया और समुद्रतटस्थ टूलोन नगर पर चढ़ाई करके प्रथम उसे हस्तगत कर लिया। फ्रांसीसी सेना का सञ्चालन किसी योग्य सेनापति के द्वारा न होने के कारण इस समय उसकी दशा बड़ी अव्यवस्थित सी थी। वीर नैपोलियन को उसका उपसेनापति बना कर भेजा गया था। उस ने समस्त सेना के सञ्चालन का भार अपने ऊपर ले लिया और रणाङ्गण में ऐसी अद्भुत वीरता एवं युद्धकौशल दिखलाया कि अँग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये जिस से उन्हें वहां से भागना पड़ा। टूलोन विजय के पश्चात नैपोलियन को पहिले तो मार्सैल्स भेजा गया किन्तु फिर शीघ्र ही वहां से ब्रिगेडियर जनरल्ल बना कर उसे नाइस भेज दिये गया। यहां आस्ट्रियन सेना के एक दल के साथ उसे सामना करना पड़ा परन्तु उसे भी इसने मार भगाया। तब से वह अपनी रण-चातुरी और वीरता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध होगया।

मार्सैल्स में एक राजकीय कारागार का जीर्णोद्धार करने के सम्बन्ध में नैपोलियन पर राजकीय पत्त लेने का अभियोग चलाया गया किन्तु निर्दोष प्रमाणित होने पर भी शासकमण्डल ने इसे पैदल सेना का जनरल्ल बना दिया। नैपोलियन ने इसे अपना अपमान समझ कर नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और

कुछ समय तक योंही इधर उधर घूमता रहा। इधर इटली में फ्रांसीसियों की सेना की हार पर हार होने लगी। उस समय कुछ लोगों ने नैपोलियन को शान्ति-रक्षा-समिति में सलाह देने के लिये एक सदस्य बना लिया। उसी समय राष्ट्रीय पञ्चायत ने प्रजातन्त्र सञ्चालन के लिये एक नवीन व्यवस्था की योजना की जिसके अनुसार शासन का भार पांच निर्वाचित प्रधान पञ्चों के हाथ में सौप दिया गया और व्यवस्था आदि के निर्माण तथा नियमपरिवर्तन के लिये दो सभाओं की स्थापना की गई। इन सभाओं में यद्यपि प्रजातन्त्रवादी जातीय सभा का बहुमत था तथापि राजतन्त्रवादी नेता गण पुनः राजवंश के किसी व्यक्ति को सिंहासन पर बैठाना चाहते थे। इसी कारण फ्रांस में पुनः प्रजाविद्रोह उठ खड़ा हुआ। अशिक्षित जनसमुदाय ने उच्चवंशीय लोगों का पक्ष लेकर जातीय सभा पर आक्रमण कर दिया। इस विद्रोह दमन के लिये नैपोलियन को सेनापति बना दिया गया। उस समय इस की अवस्था २५ वर्ष की थी। फ्रांस की समस्त आभ्यन्तरिक सेना का नायक होकर उसके शासन और संरक्षण का उत्तरदायित्व अब इसी पर आ पड़ा। इसने शान्ति-रक्षा के निमित्त नगर वासियों के हथियार छीनने आरम्भ कर दिये। थोड़े ही समय में इसने एकदम सर्वत्र शान्ति स्थापित करदी। इस से नैपोलियन का गौरव और ख्याति बढ़ गई और तभी से इसके भाग्यभास्कर का पूर्ण रूप से उदय हुआ।

सन् १७९६ ई० में जोसेफनी नामक एक अत्यन्त लावण्य-

मयी और गुणवती स्त्री से इसने विवाह कर लिया। यद्यपि अवस्था में वह नैपोलियन से दो वर्ष बड़ी थी। तथापि सौन्दर्य के कारण उससे छोटी ही जान पड़ती थी। नैपोलियन उसके गुणों पर मुग्ध था। इन दोनों के दाम्पत्य प्रेम मे किसी प्रकार की अकृत्रिमता न थी। इसी कारण उनका जीवन बड़ा आनन्दमय था। अपने अद्भुत पराक्रम और बाहुबल से नैपोलियन उत्तरोत्तर उन्नति करता गया। पैरिस में विद्रोह के पश्चात् घोर दुर्भिक्ष पड़ा और प्रजा अन्न वस्त्र से अत्यन्त पीड़ित होने लगी। उस समय नैपोलियन ने नगरवासियों की इतनी सहायता और सेवा की जिससे कि यह सभी का प्रीतिभाजन और आदरणीय बन गया।

फ्रांस में प्रजातन्त्र की स्थापना होने पर यूरोप के अन्य राष्ट्रों में भ्रम और शंका उत्पन्न हो गई, अतः वे सब एकमत होकर फ्रांस की इस प्रजातन्त्र-शासनप्रणाली को विध्वंस करने का विचार करने लगे। इस समय आस्ट्रिया इटली पर घोर अत्याचार कर रहा था और यूरोप के अन्य कई प्रमुख राष्ट्र उस के इस कार्य में सहयोग दे रहे थे। अतः इटली की रक्षार्थ फ्रांसीसी सेना भेजी गई। नैपोलियन इस सेना का सेनापति बनाया गया। अपनी विशाल चतुरंगिणी सेना को लेकर नैपोलियन ने कूच कर दिया और आस्ट्रिया की सेना की ओर बढ़ा। थकी हुई सेना को विश्राम का भी अवसर न देकर उसने आस्ट्रिया और सार्डीनिया के सम्मिलित दल बल पर चारों ओर

से युगपत् आक्रमण कर दिया और मेडेना नामक स्थान पर उसे पराजित कर बहुत सी रणसामग्री तथा रसद अपने अधिकार में करली। तदन्तर और भी कई स्थानों पर युद्ध करके उसने शत्रु-दल को नितान्त छिन्न भिन्न कर दिया। इस विजय के समाचार से सारा यूरोप गूंज उठा और पैरिस में आनन्द मनाया जाने लगा। सार्डीनिया से चलकर नैपोलियन को कई जगह आस्ट्रियन सेना का सामना करना पड़ा। जिनमे मानतोया का युद्ध बड़ा प्रसिद्ध है। यहां १५ सहस्र आस्ट्रियन सेना के साथ भीषण युद्ध करके उसने मानतोया के दुर्भेद्य दुर्ग को तोड़कर उसपर भी विजय प्राप्त करली। मानतोया के युद्ध में नैपोलियन ने बड़ी रणचातुरी दिखलाई थी और इसीसे इटली को आस्ट्रिया के अत्याचारों से मुक्ति मिली जिसके कारण इटली की प्रजा नैपोलियन को अपना उद्धारक समझ कर उसकी पूजा करने लगी।

नैपोलियन ने एक बार मिस्र पर भी अधिकार प्राप्त करने की इच्छा की, अतः शासकवर्ग की अनुमति लेकर एक महती सेना के साथ वह उस ओर चल पड़ा। सन् १७९८ ई० में उसने अलैक्जेण्ड्रिया और कैरो पर भी विजय प्राप्त करलीं और वहां की प्रजा का प्रीतिपात्र बन कर वह उनके साथ हिल मिल कर रहने लगा। अंग्रेजी एडमिरल नेल्सन को जब फ्रांसीसी सेना के मिस्र में उतरने का समाचार मिला तो उसने उस पर चढ़ाई करदी और फ्रांसीसी बेड़े को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। इससे नैपोलियन को बड़ा दुःख हुआ और वह स्वदेश न लौट सका। उस की

अभिलाषा एक बार भारत में भी पदार्पण करने की थी पर उसे भी वह पूरी न कर सका। इटली और आस्ट्रिया की विजय के पश्चात् सारे यूरोप में नैपोलियन का आतङ्क छा गया था, अतः मिस्र में नेल्सन द्वारा फ्रांसीसी बेड़े के नष्ट किये जाने का समाचार जब यूरोप पहुंचा तो राजकीय पक्ष के लोगों और विशेषकर इङ्गलैण्ड के हर्ष की सीमा न रही।

अंग्रेज और यूरोपीय राजाओं ने फ्रांस के राजसिंहासन पर फिर बार्बोन वंशजों को बैठाने की चेष्टा प्रारम्भ कर दी और प्रजातन्त्र को नष्ट करने के प्रयत्न करने लगे। उनके सम्मिलित प्रयत्नों से फ्रांस-प्रजातन्त्र का आसन डावाडोल होने लगा। कुछ समय के पश्चात् जब नैपोलियन को यह समाचार मिला तो उसने मिस्र से किसी प्रकार फ्रांस पहुंचने का निश्चय किया। अनेक विपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करते हुए वह जैसे तैसे १ अक्टूबर सन् १७६६ ई० को कार्सिका पहुंचा और वहां से फ्रांस चला गया। फ्रांस पहुंच कर नैपोलियन ने वहां की विशीर्ण शासनशृङ्खला को दृढ़ बनाने और अराजकता को दूर करने का संकल्प किया। नगर की एक बहुत बड़ी सेना की सहायता से उस ने फ्रांस की अध्यक्षसभा और पंचशति सभा दोनों का अन्त कर दिया और कुछ सदस्यों की एक बैठक की जिसमें सबने एक स्वर से नैपोलियन को ही देश का शासन करने के उपयुक्त समझ कर उसे सारा भार सौंप देने की अपनी स्वीकृति देदी। अतः उसे प्रजातन्त्र शासन का प्रथम

कौंसिल बना दिया गया। इस प्रकार अब नैपोलियन पूर्णरूप से फ्रांस का सर्वेसर्वा बन गया। उसने उपद्रव को शान्त कर सर्वत्र शान्ति स्थापित करदी परन्तु इंग्लैंड और आस्ट्रिया के साथ अब भी उसकी शत्रुता बनी ही रही। उस समय उचित समझ कर नैपोलियन ने इंग्लैण्ड के अधीश्वर को एक पत्र लिखा जिसमें फ्रांस के प्रजातन्त्र को स्वीकार कर उसके साथ सन्धि करने और यूरोप में शान्ति का वातावरण बनाये रखने का प्रस्ताव किया, परन्तु इंग्लैण्ड तो फ्रांसीसी बार्बोन वंश को ही वहां के राजसिंहासन पर देखना चाहता था अतः उसने बड़ी अवज्ञा के साथ पत्र का उत्तर दिया। नैपोलियन अपने देश की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता था, अतः उसे अपने यहां की शासन-प्रणाली में बाहरी शक्तियों को हस्तक्षेप करना उचित नहीं जान पड़ता था। उसकी इच्छा थी कि शांति स्थापित हो जाय और उसकी इस सदभिलाषा में इंग्लैण्ड के बहुत से अच्छे लोग उस के समर्थक थे। परन्तु जब उसने देखा कि इंग्लैण्ड के मन्त्रि-मण्डल की हठवादिता से युद्ध अनिवार्य हो गया है तो उसने भी युद्ध की घोषणा करदी। इधर इंग्लैण्ड के साथ और भी कई राज्य मिल कर सेना एकत्रित करने में जुट गये। नैपोलियन ने अनेक वार और कई स्थानों पर इन देशोंकी सम्मिलित सेनाके साथ युद्ध किया और विजय प्राप्त की। परन्तु उसके जीवनकी सब से प्रसिद्ध घटना वाटरलू का वह प्रसिद्ध युद्ध है जिसमें पराजित होकर उसे अपने अन्तिम समय मे बड़ा कष्ट भोगना पड़ा।

सबसे प्रथम सन् १८१४ ई० में इङ्गलैंड रूस और आस्ट्रिया की सम्मिलित सेना द्वारा पराजित होने पर इसे एल्बा में जाकर रहना पड़ा। कुछ समय के पश्चात् यह वहां से निकल भागा और पुनः फ्रांस पर अधिकार प्राप्त कर लिया। सन् १८१५ ई० में इसे पुनः इसी सम्मिलित सेना से मोर्चा लेना पड़ा और वाटरलू के प्रसिद्ध स्थान पर घमासान लड़ाई हुई। इस समय इसके अनेक मित्र और सेनापतियों ने इसके साथ विश्वासघात किया था जिसके फलस्वरूप युद्ध मे इसकी पराजय हुई और इसे अंग्रेजी झण्डे के नीचे उनके जहाज पर शरण लेनी पड़ी। वहां से २६ जून सन १८१५ ई० को इसे बन्दी बनाकर आजीवन कारावास भोगने के लिये सेण्टहेलना नामक द्वीप में भेज दिया गया। एल्बा से लौट कर जब नैपोलियन ने फ्रांस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था उस समय वियेना मे समस्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन हो रहा था जिसमें फ्रांस को परस्पर विभाजित करने का विचार किया जा रहा था। जब वहां नैपोलियन के फ्रांस पर पुनः अधिकार कर लेने का समाचार पहुंचा तो सभी राजागण बड़े क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने मिलकर नैपोलियन पर आक्रमण करने का निश्चय किया। आस्ट्रियन राजकुमार स्पार्ट जेनवरा के आधीन साढ़े तीन लाख सेना इकट्ठी हुई। इङ्गलैण्ड और प्रशा ने भी ढाई लाख सेना वेलिंगटन और क्रोचर के आधिपत्य मे भेजी थी। अर्थलोलुप और स्वार्थान्ध राष्ट्रों के इस पाशविक बल का सामना करने के लिये साहसी और धीर वीर नैपोलियन दो लाख अस्सी सहस्र

सेना लेकर रणाङ्गण में उपस्थित हुआ। नैपोलियन की हार्दिक अभिलाषा थी कि किसी प्रकार शान्ति स्थापित हो जाय और यह भीषण रक्तपात रुक जाय किन्तु साथ ही उसे अपने देश को स्वतन्त्र बनाये रखने की भी पूरी चिन्ता थी। उसने शान्ति-स्थापन का बहुत कुछ प्रयत्न किया पर सब निष्फल हुआ। अहम्मन्य राजाओं ने युद्ध की घोषणा करदी और अन्त मे वाटरलू में युद्ध प्रारम्भ हुआ। नैपोलियन ने सोचा था कि आक्रमण इस ढंग से हो कि किसी प्रकार तीनों राष्ट्रों की सेनाओं को मिलने न दिया जाय। परन्तु इस के इस संकल्प में उसीके एक विश्वास-घाती सेनापति वोरमेण्टों ने वेलिङ्गटन को नैपोलियन की यात्रा की सूचना देदी, अतः नैपोलियन की योजना फलीभूत न हो सकी। कई दिनों तक भयङ्कर युद्ध हुआ। नैपोलियन की वीरता और रणकुशलता देखने ही योग्य थी। परन्तु वह तीन शत्रुओं के साथ एक साथ कब तक लड़ सकता था। शनैः २ फ्रांसीसी सेना क्षीण होने लगी और नैपोलियन का रक्षक दल भी एक एक करके मारा गया। नैपोलियन ने अपने छुटकारे का कोई उपाय न देख कर अंग्रेजों के जहाज पर शरण ली और वहीं बन्दी बना कर सेण्टहेलना मे भेजा गया। सेण्टहेलना में इसके साथ बड़ा ही अन्याय, अत्याचार और उद्दण्डता का व्यवहार किया गया। उसे अनेक प्रकार के कष्ट दिये गये और भांति २ से उसका अपमान किया गया पर वीर-धीर नैपोलियन ने सब कुछ शांतिपूर्वक सहन किया। ५ वर्ष के पश्चात् ५ मई सन् १८२१ ई०

को रुग्णावस्था से अत्यन्त जर्जरित होकर उसने इस नश्वर देह का त्याग कर परमपद प्राप्त किया। मरते २ तक उसे अपनी मातृ-भूमि के गौरव और मर्यादा की रक्षा की ही चिन्ता बनी रही।

वीर दृढ़व्रती आत्मायें ऐसी ही हुआ करती हैं। यद्यपि नैपोलियन आज संसार में नहीं है परन्तु संसार में उसकी अव्यय-कीर्ति चिरकाल तक उसे जीवित बनाये रखेगी। देश की आन पर बलि हो जाने वाले इस महापुरुष का चरित्र युवकों के लिये अत्यन्त अनुकरणीय है।

❀ ❀ ❀

७-महात्मा सुकरात

सत्य प्रेमी महात्मा लोग निन्दास्तुति, मानापमान, हानि-लाभ यहां तक कि मृत्यु की भी कुछ चिन्ता नहीं करते। नाना प्रकार के सांसारिक प्रलोभन, लोकापवाद अथवा राजदण्ड की भीषण यातनायें भी उन्हें अपने न्याय्य मार्ग से किंचिन्मात्र विचलित नहीं कर सकतीं। वे पर्वत की नाईं स्थिर तथा समुद्र के समान धीर और गम्भीर होकर अपने सिद्धान्त पर अटल रहते हैं और अपने सदाचरण तथा दिव्य ज्ञानोपदेश द्वारा मानव जाति के हित-साधन में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। अब से कोई ढाई सहस्र वर्ष पूर्व की बात है कि यूनान देश में सुकरात नाम का एक ऐसा ही महापुरुष वर्तमान था। वह सत्य का सच्चा उपासक था। सत्य की खोज में ही उसने अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया। अपने महान् उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त उसे अपने देशवासियों की शत्रुता मोल लेनी पड़ी। इसी कारण उन लोगों ने उसे निरपराध ही दण्डित प्रमाणित कर विषपान द्वारा मार डाला।

सुकरात का जन्म ख्रीष्टाब्द से लगभग ४६६ वर्ष पूर्व यूनान देश की प्रसिद्ध राजधानी एथेंस के एक ग्राम में हुआ था। उसका पिता सोफरोनिकस एक संगतराश था और माता फिनारेटी साधारण धात्री का काम करती थी। सांसारिक दृष्टि से सुकरात कोई बड़ा धनी अथवा यशस्वी मनुष्य नहीं था। एक अत्यन्त साधारण परिवार मे उत्पन्न होकर भी उसने अपनी अलौकिक सत्यप्रियता और दृढ़ निश्चय तथा कार्यपटुता से महापुरुष की पदवी प्राप्त की थी। अपनी युवावस्था में उसने कोई ऐसी कृति नहीं दिखाई जो उल्लेख योग्य हो, हॉ यूनान देश के तत्कालीन विद्वानों और महात्माओं का सत्संग अवश्य किया था। चालीस वर्ष की अवस्था मे अपने देश की ओर से वह पोटीडिया के युद्ध मे गया था। इस से पूर्व की उसकी जीवनी का कोई लिखा इतिहास नहीं मिलता।

जिस समय सुकरात का जन्म हुआ था उन दिनों यूनान में प्रजातन्त्र राज्य था। थोड़े ही दिन हुए थे कि यह अत्याचारी शासकों के पञ्जों से छूट चुका था और स्वभावतः इन दिनों लोगों की स्फूर्ति सब बातों की ओर हो रही थी। यूनान उस समय उन्नति के शिखर पर आसीन था। यूनान की राजधानी एथेंस उस समय समस्त विद्याओं, कला-कौशल और सौन्दर्य की भाण्डार थी। इन दिनों यही एक ऐसी नगरी थी जिसकी राजसत्ता और राजनियम को सारे यूरोपवासी आदर्श मानते थे। इसी समय धार्मिक विचारों में भी यहां क्रान्ति उत्पन्न हुई।

यूनान देश के प्राचीन निवासी देवी देवताओं में विश्वास करते थे। अपने उपास्य देवताओं को वे मानववृत्तिधारी अलौकिक जीवविशेष मानते थे। जनसाधारण का विश्वास था कि इस लोक मे शूरता दिखाने और स्वर्ग के नाना प्रकार के देवी देवताओं की पूजा करने से सर्वकामनाएं सिद्ध होती हैं। इस समय इस प्रचलित विश्वास-समूह से पृथक् एक दूसरे नूतन विचार वाले मनुष्योंने अपने नवीन देवता माने और नए सिद्धान्त गढ़े। ये लोग निपट मूर्ख, दम्भी और स्वार्थी थे और अपने आपको युवकों को शिक्षा देने वाले ठेकेदार समझते थे। लोग इन्हें 'सोफियाई' कहते थे। पुरातन-विचारवादी इन्हें इसी लिये बुरा समझते थे कि ये नानाप्रकार के नाटक रच कर युवकों को अपनी ओर आकृष्ट करते और अपने विचारों का प्रभाव डालकर उनकी सहज व सरल बुद्धि को विलासिता तथा आलस्य के गहरे आवर्त मे फंसाने की चेष्टा किया करते थे। साथ ही शिक्षक का आसन ग्रहण कर गुरुदक्षिणा के रूप में उन से पुष्कल धन भी लूटते थे। इस के अतिरिक्त एक तीसरे विचार वाले व्यक्तियों का समूह भी था जो अपने को बड़ा दार्शनिक प्रगट किया करते थे। ये लोग प्रकृति के प्रत्येक नियम की अपने नवीन विचारों और युक्तियों द्वारा व्याख्या करते थे। इनके नए विश्वासों के कारण पुरातन-विचारवादी लोग सोफियाइयों की भांति इनसे भी घृणा करते थे

तत्कालीन परिस्थितियों का सुकरात पर भी पर्याप्त प्रभाव

पड़ा। उन्होंने तर्क शास्त्र का अच्छा अध्ययन और मनन किया था और पीछे यही उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य और एक मात्र कार्य था। प्राचीन पुस्तकों के अध्ययन की ओर भी इनकी विशेष रुचि थी। इसी अभिरुचि के कारण इन्होंने यूनान के प्रायः सभी प्रसिद्ध २ महाकाव्य और दार्शनिक ग्रन्थ देख डाले थे। उस समय के प्रचलित पदार्थ-विज्ञान, गणित और ज्योतिर्विद्या से भी इन्होंने साधारण परिचय प्राप्त कर लिया था। पोटीडिया के युद्ध में इन्होंने बड़ी वीरता और साहस के साथ अनेक कष्टों को सहन करने की क्षमता प्रदर्शित कर अपने अन्य साथियों को अत्यन्त विस्मित कर दिया था। वहां अत्यधिक शीत पड़ता था और जबकि दूसरे सिपाही जाड़े के मारे अकड़े जाते थे। सुकरात क्षुत्पिपासा से अत्यन्त आकुल होने पर भी शीत की कुछ पर्वाह न कर अपने स्थान पर दृढ़ता पूर्वक डटे रहे और इसी अवसर पर उन्होंने अपने एक साथी की प्राणरक्षा कर एक छोटा सा युद्ध भी विजय किया। परन्तु इस युद्ध-विजय के यश का भागी स्वयं न बन कर अपने साथी को बना दिया और इस प्रकार अपूर्व स्वार्थत्याग का परिचय दिया। ऋषित्व का यह पहिला लक्षण है। महात्मा लोग कभी आत्मश्लाघा नहीं किया करते। सर्व-साधारण में अपने गुणों का विज्ञापन करने की उन्हें आवश्यकता नहीं हुआ करती। वे तो अपने गुणों से स्वयं सन्तुष्ट रहा करते हैं।

इसके पश्चात् सुकरात और भी कई बार युद्ध में सम्मि-

लित हुये परन्तु उनकी वीरता प्रदर्शन की प्रधान समरभूमि तो एथेंस नगरी थी, जहां तलवार से नही अपितु वाणीरूपी अस्त्र से वे सतत युद्ध करते रहते थे। सुकरात को तर्क करने की जन्म से बान थी। विना तर्क की कसौटी पर कसे किसी बात को स्वीकार कर लेना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। वह प्रत्येक व्यक्ति के पास जा जाकर उससे किसी ऐसी बात पर तर्क उठा कर प्रश्नोत्तर किया करते थे जिसे वह सहज बोधगम्य समझे बैठा रहता था। यह उनका नित्य का कार्य था। उनकी तर्कप्रणाली ऐसी विशुद्ध और निष्पक्ष होती थी कि विपक्षी की अज्ञानता अनायास ही प्रकट हो जाती थी और उसे यह भी भली भांति प्रतीत हो जाता था कि वह अपनी बात का स्वयं ही खण्डन कर रहा है। जिस बात को वह साधारण समझ बैठा था और समझता था कि उसकी व्याख्या तो सरल है और वह उसे भली भांति जानता है उसी बात पर सुकरात के तर्क का उससे कोई उत्तर नहीं बन पड़ता था और अन्त को उसे यह स्वीकार करना पड़ता था कि वास्तव में वह कुछ भी नहीं जानता। अमुक सिद्धान्त के सम्बन्ध में मेरी धारणा और निश्चित व्याख्या बहुत दोषपूर्ण और अयुक्तियुक्त है यह बात उसे अच्छी तरह हृदयंगम हो जाती थी।

अपने इस तर्कशील स्वभाव के कारण ही एथेंस में सुकरात के विरुद्ध एक शत्रु दल खड़ा हो गया। जिसने उसे निरपराध ही अभियुक्त प्रमाणित कर प्राणदण्ड दिलवाया।

सुकरात के जीवन में उसका अभियोग और मृत्यु ही प्रधान घटनाएं हैं। प्राणों पर आपड़ने पर भी वह अपने सिद्धान्त से कभी विचलित नही हुआ। इसका प्रमाण उसने स्वयं अभियोग के समय अपनी सफाई देते हुये एक घटना का उल्लेख करके दिया था। घटना इस प्रकार है—ईसा सन् से ४०६ वर्ष पूर्व एक युद्ध मे एथेंस के सामुद्रिक बेड़े ने किसी प्रवल शत्रु को परास्त किया। युद्ध के शान्त होने पर यूनानी सेना पति अपनी ओर के मृत सैनिको की लाशों का पता न लगा सके। राजधानी में जब यह समाचार पहुंचा तो एथेंस-निवासी क्रोध से उन्मत्त हो उठे। क्योंकि यूनानी धर्म शास्त्र के अनुसार मृतकों का अन्तिम संस्कार धर्म का मुख्य और परम आवश्यक अङ्ग माना जाता था। इसके अतिरिक्त कुछ आहत सैनिक डूब भी गये थे जिन्हें सरदार लोग बचा न सके। सरदार तुरन्त राजधानी में बुलाए गये और उनका विचार करने के लिये एक सभा बुलाई गई। अपने कर्तव्यपालन में प्रमाद करने का अपराध उन पर आरोपित किया गया। सभा ने इस बात का निश्चय करना चाहा कि सरदारों के अपराध का विचार किस रीति से किया जाय। तत्कालीन प्रचलित कानून के अनुसार प्रत्येक विचाराधीन अपराधी के दण्ड या मुक्ति की आज्ञा पर पृथक् २ विचार होना उचित था। पर सभा ने यह प्रस्ताव किया कि दोनों पक्षों की युक्तियां सुनकर मुक्ति या दण्ड के लिये आठों सरदारों का विचार एक साथ ही किया जाय। सभा का यह निश्चय

नितान्त अनुचित और नियमविरुद्ध था। संयोगवश सुकरात भी इस सभा का सदस्य था और उस समय की प्रणाली के अनुसार जिस दिन यह प्रस्ताव उपस्थित था वही सभा के सभापति पद पर भी आसीन था। प्रस्ताव नियमविरुद्ध होने से उसने उसे उपस्थित करने की अनुमति प्रदान न की। इस पर उसे जेल में ठूंस देने, गला घोंट कर मार डालने और इसी प्रकार की अन्यान्य अनेक धमकियां दी गईं; परन्तु वीर पुरुष 'न्यायमार्ग से कभी विचलित नहीं हुआ करते।' इस तथ्य का अनुसरण कर इन धमकियों और क्रोधोन्मत्त साधारण सभासदों के दांत किटकिटाने की भी उसने लेशमात्र चिन्ता न की। प्रत्युत वह अपने निश्चय पर अटल रहा। इस प्रकार और भी कई बार उसने अन्याय का विरोध कर और युद्ध क्षेत्रों में वीरता-प्रदर्शन कर अपने आत्मिक और शारीरिक बल का परिचय दिया था।

यूनान में उस समय अरिस्टोफेन नामक एक भाटकवि था। वह पुराने विचारों का मनुष्य था और नवीन विचार एवं तर्कप्रणाली तथा युक्तिवाद से कुढ़ता था। सोफियाइयों और प्राकृतिक दार्शनिकों से इसे बड़ी घृणा थी। यद्यपि सुकरात सोफियाई और नवीन दार्शनिकों के विरुद्ध भी तर्क-वितर्क करता था परन्तु फिर भी अरिस्टोफेन उसे उन्हीं का पक्षपाती समझता था; वह निरन्तर उसका अनिष्ट-साधन करने में तत्पर रहता था। उसने एक नाटक की रचना कर सुकरातका खूब उपहास किया तथा उसके विरुद्ध अनेक भ्रमपूर्ण बातें फैलाकर उसे नास्तिक

और युवकों के आचरण को भ्रष्ट करने वाला सिद्ध करने का यत्न किया। अन्त में इस महापुरुष को प्राण दण्ड दिलवाकर ही उसने सुख की सांस ली। अरिस्टोफेन ने अपने नाटक में सुकरात का जो चित्र खींचा था वह सर्वथा मिथ्या और अपमान जनक था। यहां तक कि इस नाटक के एक दर्शक ने क्रोध में आकर एक बार अरिस्टोफेन को सम्बोधन करके कहा था—"छिः छिः तुमने सुकरात का चित्र बिल्कुल उल्टा खीचा है। वह कैसा धीर, वीर और साहसी पुरुष है यह मै युद्ध भूमि में भली भांति देख चुका हूँ।"

सुकरात पूरा वैरागी होने पर भी गृहस्थ था। उसके दो तीन बच्चे भी थे। उसकी स्त्री बडी कर्कशा और हठीली थी पर वह उसी के साथ शान्ति-पूर्वक अपना गार्हस्थ्य जीवन बिताता था। उसका पारिवारिक जीवन अधिक सुखमय नही था। इसी कारण वह अपने अमूल्य समय का अधिक भाग बाहरी लोगों के साथ बात-चीत, तर्क-वितर्क और खण्डन-मण्डन करने मे ही व्यतीत किया करता था। कभी-कभी तो वह अपने जीविकोपार्जन की भी कुछ चिन्ता नहीं करता था। इसी से उसे आजीवन दरिद्रता का आश्रय लेना पड़ा। कुटुम्बपालन के लिये अपेक्षित द्रव्य के अभाव मे कठिनाइयों का अनुभव होने से ही कदाचित् उसकी स्त्री के कर्कशा होने का कारण बतलाया गया है। जो हो सुकरात वास्तव में एक महापुरुष था। अपना सारा जीवन उसने ज्ञानचर्चा में ही बिताया। शारीरिक सुख और इन्द्रियों के भोग की उसे कुछ

भी लालसा न थी। वह अपने शिष्यों को समझाया करता था कि भोग विलास आत्मज्ञान के मार्ग से भारी बाधा है। उसके सीधे-साधे और आडम्बरशून्य जीवन से ही उसके देशवासियों में से कुछ ओछे मनुष्यों ने अनेक प्रकार से उसका अपमान किया परन्तु उसने इसकी तनिक भी चिन्ता न की। वह इन बातों को नि.सार समझता था क्योंकि उसकी आत्मा तो एक अलौकिक स्वर्गीय दैवीशक्ति से बँधी हुई थी न कि सांसारिक जाल के बन्धन में! भगवान् के प्रिय जनों को तो सांसारिक यश, मान, द्रव्य आदि पदार्थ नितान्त असार और दुःखदायी जान पड़ते हैं। इसीलिये वे लोग इनकी ओर आंख उठा कर भी नही देखते। सुकरात ने अपने विशुद्धाचरण द्वारा संसार के सन्मुख एक महान् आदर्श स्थापित किया है। उसके तर्क का मूल यही था कि "बिना परीक्षा किये किसी विषय में अपने को बुद्धिमान् मत समझो। मै भी समझदार नहीं हूँ और न अपने को वैसा समझता ही हूँ; किन्तु तुम मूर्ख होकर भी अपने को सर्वज्ञ समझे बैठे हो—यही तुम्हारी बड़ी भूल है। यदि ज्ञान सीखना है तो अपने इस अभिमान को कि मैं ज्ञानी हूँ सर्वथा त्याग कर पहले यह कहो कि मैं कुछ नहीं जानता, सीखना चाहता हूँ, इस प्रकार जिज्ञासु बन कर ही तुम किसी से ज्ञानोपार्जन कर सकोगे, अन्यथा जन्म भर मूर्ख बने रहोगे और ऐहिक तथा पारलौकिक किसी तत्व को भी समझ सकने में असमर्थ होकर मनुष्य-जन्म को वृथा गँवादोगे।" भगवान्

कृष्ण ने भी अर्जुन को गीता में यही उपदेश दिया है "निर्ममो निरहङ्कार:" अर्थात् मनुष्य को निरभिमान होकर निरन्तर ज्ञानोपार्जन में संलग्न रहना चाहिए।

❀ ❀ ❀

८—श्री गोपालकृष्ण गोखले ।

स्वर्गीय महात्मा गोपालकृष्ण गोखले उन महापुरुषों में थे जो राष्ट्र के सच्चे सेवक, मातृ-भूमि के अनन्य उपासक, दीन तथा असहायों के बन्धु और प्रजावत्सल होते हैं, मनुष्य समाज की सेवा करना और प्राणिमात्र को सुख पहुंचाना ही जिनके जीवन का परम लक्ष्य होता है तथा जो विश्वजनीन कार्यों द्वारा संसार के सन्मुख कोई उच्च आदर्श स्थापित कर अपनी कीर्ति को अमर बना जाया करते हैं।

गोखले का जन्म सन् १८६६ ई० मे बम्बई प्रांत के कोल्हापुर नामक स्थान में एक कुलीन और प्रतिष्ठित कोङ्कण ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम कृष्ण था अतः महाराष्ट्र देश की प्रथा के अनुसार पिता का नाम जोड़ कर इनका नाम गोपालकृष्ण रक्खा गया। गोखले के पिता अधिक समृद्ध एवं सम्पत्तिशाली न थे किन्तु वे बड़े ही धार्मिक, गुणवान् और निष्ठावान् थे। धनाभाव होने पर भी बालक गोखले की शिक्षा-दीक्षाके सम्बन्धमें उन्होंने किसी प्रकारकी त्रुटि न होने दी। गोखले बाल्यावस्था से ही अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न और बड़े परिश्रमी थे।

इनकी स्मरण शक्ति भी बड़ी तीव्र थी। जो कुछ वे पढ़ते थे उसे तुरन्त ही अभ्यस्त कर लेते थे। विद्योन्नतिके साथ साथ अपने शील और सदाचार को भी उत्तम बनाने की ओर इनका विशेष ध्यान रहता था। छल, कपट तथा मिथ्याभाषण से उनके हृदय को बड़ी चोट लगती थी। दयालुता, सरलता और सत्यवादिता उनके स्वाभाविक गुण थे। एक समय की बात है कि जब वे चतुर्थश्रेणी मे पढ़ते थे तो एक दिन उनके अध्यापक ने उनकी श्रेणी के सभी विद्यार्थियों को गणित के कुछ प्रश्न दिये और उन्हें घर से कर लाने की आज्ञा दी। दूसरे दिन जब प्रश्नों के उत्तर देखे गये तो गोखले को छोड़कर और किसी भी विद्यार्थी के सब प्रश्न शुद्ध न थे। गोखले के सब प्रश्नों को शुद्ध देख-कर अध्यापक महोदय बड़े प्रसन्न हुए और उन्होने गोखले की बड़ी प्रशंसा कर उसे प्रथम नम्बर पर बैठने की अनुमति दी तथा अन्य विद्यार्थियों की भर्त्सना की। अपनी अतथ्य विजय-प्रशंसा सुनकर गोखले फूट फूट कर रोने लगे। लड़को और अध्यापक को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ किन्तु 'सत्य रहस्य क्या है' यह कोई न जान सका। अन्त मे अध्यापक के प्रेम पूर्वक बहुत समझाने बुझाने पर जब गोखले का रोना कुछ शांत हुआ और उनसे आग्रहपूर्वक उसका कारण पूछा गया तो वे बोले, "गुरुजी! ये सब प्रश्न मैंने स्वयं नहीं किये है अपितु दूसरे से पूछ कर किये है। मैंने मिथ्या भाषण कर झूठी प्रशंसा पाई है अतः मै अपराधी हूँ मुझे दण्ड दीजिये"। गोखले की यह बात सुनकर सब

विद्यार्थी आश्चर्य-चकित हो उनकी ओर देखने लगे। अध्यापक ने अत्यन्त प्रसन्न होकर गोखले को हृदय से लगा लिया और विद्यार्थियों को सम्बोधन कर कहने लगे, "बालको देखो सचाई इसे कहते हैं।" इस अपराध के प्रायश्चित्त मे गोखले एक सप्ताह पर्यन्त अपनी कक्षा में अन्तिम स्थान पर बैठते रहे।

इनकी अल्पावस्था में ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया था किन्तु इससे इनकी शिक्षा-दीक्षा में किसी प्रकार की बाधा न पड़ी क्योंकि इनके ज्येष्ठ भ्राता ने इनकी शिक्षा का समस्त भार अपने ऊपर ले लिया था। पढ़ने लिखने में तो वे सदैव अग्रसर रहते थे। केवल १८ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने बम्बई विश्व-विद्यालय की बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करली थी। इनके भ्राता एवं परिवार के अन्य व्यक्तियों की उत्कट अभिलाषा थी कि गोखले इञ्जीनियर बनकर जीविकोपार्जन करें परन्तु उस ओर इनकी प्रवृत्ति न देखकर वे शान्त हो गये। गोखले का हृदय बड़ा ही कोमल और दयालु था। इसी कारण दूसरे की दयनीय दशा देखकर वे दयाभाव से द्रवीभूत हो जाते थे। पर-सेवाव्रत-परायणता उनका स्वाभाविक गुण था। धन एवं ऐश्वर्य के भोग-विलासों की ओर उनकी विशेष रुचि न थी। देश सेवा करने की उनकी प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही थी। कदाचित् इसी महान् लक्ष्य को लक्षित कर उनका जन्म हुआ था। अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये ही सबसे प्रथम इन्होंने पूना के न्यू इङ्गलिश स्कूल में केवल चालीस रुपया मासिक वेतन पर ही अध्यापन कार्य करना

प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् जब यह स्कूल कालेज मे परिणत हो गया तो ये वहां प्रोफेसर नियुक्त हो गये। केवल ७५) मासिक वेतन पर ही सन्तुष्ट रह कर इन्होंने वहा अध्यापन कार्य करना प्रारम्भ किया और पूनाके इस प्रसिद्ध फर्ग्युसन कालेजकी आजीवन सेवा करने का व्रत धारण कर लिया। कालेज मे रहते हुये इन्होंने कभी अपने को उसका नौकर नहीं समझा, अपितु उसे उन्नत और समृद्ध बनाने के लिये अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर दिया; साथ ही घर घर भिक्षा माग कर उसके लिये लक्षों रुपया भी संगृहीत किया।

श्रीयुत गोखले सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होने 'दक्षिण-शिक्षा-समिति' (Deccan Education Society) की आजीवन सदस्यता स्वीकार की थी। अध्यापन कार्य के साथ वे स्वाध्याय में भी निरन्तर सलग्न रहते थे। इसी कारण उन्होंने अनेक विषयों मे अगाध पाण्डित्य और योग्यता प्राप्त करली थी। गणित, इतिहास और अर्थशास्त्र के तो वे प्रकाण्ड पण्डित थे। इन विषयों मे उनकी योग्यता की ख्याति न केवल भारतवर्ष में अपितु यूरोप के सुदूर देशों मे भी फैल गई थी। अपनी अलौकिक प्रतिभा, अगाध विद्वत्ता और अनुपम कार्यपटुता के कारण ही उन्हें केवल २७ वर्ष की ही आयु मे बम्बई विश्वविद्यालय के सदस्य बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। फर्ग्युसन कालेज मे रहते हुये ही न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे से इनका परिचय हो गया था। उनके संसर्ग से इन्हें देशसेवा करने का अधिक प्रोत्साहन मिला।

राजनीति तथा अन्यान्य विषयों की अनेक बातें गोखले ने महामति रानाडे से ही सीखी थीं; अतः वे इन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते थे।

यद्यपि गोखले ने आजीवन फर्ग्युसन कालेज की सेवा का व्रत लिया था तथापि शनैः २ इनका सेवाक्षेत्र अधिक विस्तृत होता गया और साथ ही इनकी क्रियोशीलता भी बढ़ती गई। पूना की सार्वजनिक सभा नामक संस्था से एक त्रैमासिक पत्र प्रकाशित होता था जिसका सम्पादन कार्य इन्हीं को सौंपा गया। २१ वर्ष की अवस्था में ही राजनीतिक क्षेत्र में इनका पूर्ण प्रवेश हो चुका था। सब से पूर्व बम्बई प्रान्त की नैतिकसभा में इन्होंने भाग लिया। उस समय के इन के प्रभावशाली भाषण को सुनकर श्रीयुत मुधोलकर ने यह भविष्यवाणी की थी कि 'एक दिन यह एक महान् व्यक्ति होगा और अखिल भारतीय राष्ट्र-सभाके सभापति पद को सुशोभित करेगा।' उनकी यह वाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई और सन् १६०५ में काशी में होने वाली राष्ट्रीय महासभा का सभापति-पद इन्होंने ही अलंकृत किया था। इसके पूर्व सन् १८६५ में पूना कांग्रेस के वे मन्त्री भी रह चुके थे। सभापति-पद से दिया हुआ आपका भाषण अत्यन्त महत्व-पूर्ण था। उसमें आपने अनेक विषयों की सुन्दर समालोचना की थी। स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन और सरकारी शासन के विभिन्न विभागों की कड़ी आलोचना तथा धारासभा के सुधार और भारतीयों के अधिकारोंके विषयपर भी विशेष बल दिया था।

महात्मा गोखले एक अद्भुत प्रभावशाली वक्ता थे। प्रत्येक विषय का विवेचन ये बड़ी युक्ति और प्रमाण के साथ करते थे। उनकी जैसी युक्तिपूर्ण तर्क-क्षमता धुरन्धर से धुरन्धर विद्वान् में भी पाना कठिन था। बड़े २ विद्वान् बड़ी उत्सुकता से आपका भाषण सुनते और उनकी मनोहर भाषण-चातुरी से चकित एवं मुग्ध होजाते थे। सन् १६०५ में यह कांग्रेस की ओर से विलायत में एक डेपुटेशन के सदस्य होकर गए। पचास दिन के भीतर वहां पर आपने कोई पैंतालीस व्याख्यान दिए और अनेक लेख भी लिखे जिनके द्वारा पार्लियामेन्टके सदस्यों का भारतकी दुःख पूर्ण दशा की ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की। सन् १८६० ई० मे भारत सरकार के व्यय की पड़ताल और उसमें उचित परिवर्तन करने के लिये लार्ड वेलबी के सभापतित्व में जो कमीशन बैठा था उसमें इन्होंने भारतीय जनता की ओर से बड़े निर्भीक होकर विद्वत्तापूर्ण गवाही दी थी जिसे सुनने और पढ़ने वाले अत्यन्त चकित होगए थे। ३६ वर्ष की अवस्था में वे बम्बई की प्रान्तिक धारासभा के सदस्य निर्वाचित हुए। वहां अपनी वक्तृताओं द्वारा जो योग्यता इन्होंने दिखलाई उससे वे सबके प्रशंसापात्र बन गय थे। देश-हित-चिन्तन में वे सतत प्रयत्नशील रहते थे पर साथ ही वे राजभक्त भी थे। राजा और प्रजा दोनों को वे समान रूपसे प्रिय थे। सरकारने इन्हें के० सी० आई० ई० की सर्वोच्च उपाधि से विभूषित कर इनका सम्मान करने की इच्छा प्रकट की थी पर देश दुर्दशा के नाते आपने इस

उपाधि को एक उपाधि समझकर नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। सन् १६०२ में आप वाइसराय की कौंसल के सदस्य नियुक्त किये गये और इसी कारण आपको कालेज छोड़ना पड़ा। कालेज छोड़ते समय प्रत्येक विद्यार्थी और अध्यापक का मुखमण्डल अत्यन्त उदासीन था। आप को अभिनन्दन-पत्र देते हुए सभी के नेत्रों में अश्रु प्रवाह होने लगा। उस समय इन्होंने कहा था—"मेरे वे सहयोगी जिनके संसर्ग में कार्य करने का मुझे गौरव प्राप्त हुआ है इतने उदार हैं कि मेरे दोषों को भी वे कुछ नहीं समझते और मेरी अकिञ्चित्कर सेवा को भी बहुत मानते हैं। मैं इस समय सार्वजनिक जीवन के तरङ्गाकुल और अनिश्चित उदधि को पार करने का प्रयत्न कर रहा हूँ और केवल कर्तव्य-वश देशसेवा के इस मार्ग का अवलम्बन कर रहा हूं। इस पथ का अनुसरण करने के लिये मुझे अन्तःकरण से प्रेरणा हुई है। इस देश में सार्वजनिक सेवा में पुरस्कार बहुत कम हैं; हां निराशाएं और कठिनाइयां बहुत हैं।"

वाइसराय की कौंसिल के आप भूषण थे। इनके बिना उस के अधिवेशन नीरस होते थे। इनकी योग्यता और तर्कशैली की सभी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते थे। जब कभी कौंसिल में प्रजामत के विरुद्ध कोई नियम स्वीकृति के लिये उपस्थित होता तो वे कटिबद्ध होकर अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक उसका प्रतिवाद करते थे। भारतवर्ष में प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य और निश्शुल्क बना देने के वे प्रबल पक्षपाती थे और इस के लिये

उन्होंने बहुत यत्न भी किया, पर अपने जीवनकाल में अपनी इस अभिलाषा को पूर्ण करने में उन्हें सफलता प्राप्त न हो सकी। दीन दुखियों और अनाथों की सेवा करने में गोखले को बड़ा आनन्द मिलता था। इसे वे अपना सौभाग्य समझते थे। एक बार पूना में महामारी का भयङ्कर प्रकोप होने पर दयार्द्रहृदय गोखले ने रात दिन उन असहाय रोगियों की सेवा शुश्रूषा की जिन के बन्धु बान्धव भी उन्हें छोड़कर चले गये थे। इस से सर्वसाधारण मे गोखले के लिये अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा उत्पन्न हो गई, यहां तक कि आपकी अपूर्व सेवा को देख कर तत्कालीन लाट ने भी इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। दीन दुखियों के प्रति कठोर व्यवहार देख कर इनका हृदय पिघल जाता था। जब इन्होंने देखा कि विदेशों में भारतीय श्रम-जीवियों को नानाप्रकार के कष्टों द्वारा पीडित किया जाता है तो इन्होंने कौंसिल में यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि विदेशों मे यहां से मजदूर न भेजे जायं। दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों के साथ काले होने के कारण जो कुव्यवहार किया जाता था उसे दूर कराने के लिये होने वाले सत्याग्रह संग्राम में भी आपने विशेष योग दिया था।

स्वदेश प्रेम और स्वदेश सेवा के भावों से प्रेरित होकर सब से बढ़ कर जो काम आपने किया वह भारत-सेवा-समिति नामक संस्था की स्थापना थी। इस से उनकी दीर्घ दूरदर्शिता का अच्छा प्रमाण मिलता है। भारतवर्ष मे यों तो अनेक संस्थायें हैं पर

महामना गोखले की यह संस्था एक विशेष उद्देश्य को लक्षित कर स्थापित की गई थी। देशवासियों के हृदय में देशप्रेम, दीन दुखियों की सेवा और निःस्वार्थ पवित्र जीवन व्यतीत करने का भाव जागृत करना ही इसका मुख्य ध्येय है। समिति के सदस्यता-नियमों में इस ध्येय का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है। इस समय भारत के प्रत्येक प्रान्त में इस समिति की शाखाएँ हैं जो नानाप्रकार से सफलतापूर्वक देश-सेवा के कार्य में संलग्न हैं।

महात्मा गोखले बड़े ही उदार विचार रखते थे। न केवल वाह्यवेशभूषा अपितु हृदय के भी वे सच्चे साधु और सन्यासी थे। स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उन्हें राजनीतिक ऋषि कहा करते थे। वे बड़े ही मृदुभाषी और निरभिमान थे। अपनी प्रशंसा से उन्हें घृणा थी। एक बार श्रीयुत एण्ड्रयूज़ ने उन्हें भारत का एक-मात्र उपयुक्त नेता कह कर उनके प्रति अपने आदरभाव का प्रकाशन किया था। महात्मा गोखले को यह विचार पढ़ने को मिले। कुछ काल उपरान्त जब गोखले की श्रीयुत एण्ड्रयूज़ से भेंट हुई तो उन्होंने उन से कहा—"आप मेरे लिये नेता शब्द का प्रयोग न किया करें। मैं अभी नेता बनने योग्य नही हूँ। नेता शब्द दादा भाई नौरोजी, लोकमान्यतिलक, सरफीरोज शाह आदि के लिये ही उपयुक्त है क्योंकि उन्होंने मातृभूमि की सेवा करके नेतृत्व प्राप्त किया है। मैंने अभी नही किया।" देशसेवा के लिये इन्होंने अपना तन, मन, धन सभी कुछ अर्पण कर दिया

था। सन् १६१६ ई० में १६ फरवरी को आप इस धराधाम को त्याग कर देवलोक सिधार गये। उनके निधन से भारत-वासियों के हृदय को अत्यन्त आघात पहुँचा। देश में सर्वत्र शोक सभाएँ हुईं जिनमें उनकी मृत आत्मा के लिये शाश्वत सुख और शान्ति की कामनाएं की गईं। यद्यपि आज वे इस संसार में नहीं हैं किन्तु उनकी अक्षय कीर्ति उन के नाम को चिरस्मरणीय बनाये रक्खेगी।

६—गोस्वामी तुलसीदास

"ते धन्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थितं यशः।
यैर्निबद्धानि काव्यानि ये वा काव्येषु कीर्तिताः॥"

समाज में जो स्थान धार्मिक नेताओं, राजनीतिज्ञों और वीर पुरुषों का है वह ही साहित्यिकों का भी है क्यों कि समाज के संगठन और अभ्युत्थान के लिए जितनी आवश्यकता धर्म और नीति की है उतनी ही साहित्य की भी है। साहित्य समाज में प्रचलित विचारसमूह का प्रतिबिम्ब अथवा मूर्तरूप है। निदान समाज और साहित्य का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य के द्वारा ही समाज की संस्कृति और सभ्यता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है, और साथ ही साहित्य में निहित विचारों के द्वारा मनुष्य को अपने वैयक्तिक जीवन के सुधार एवं राष्ट्रनिर्माण के कार्यों में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। अतः जिन महापुरुषों ने साहित्यनिर्माण द्वारा मानव जाति के कल्याणार्थ अपने उच्च और पवित्र विचारों को सर्वसाधारण के लिये सुलभ बना दिया है वे परम यश और सम्मान के भागी हैं। प्रत्येक देश में समय के अनुकूल उपदेश देकर जीवनज्योति जगाने वाले अनेक महा-

रमा कवि आदि अवतरित होते रहे है, जिनकी दिव्य अमर रचनायें विश्व की विशिष्ट विभूतियों मे परिगणित की जाती हैं। हिन्दी साहित्य के स्वनामधन्य महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी भी उन्ही में से एक हैं। भारतवर्ष में कदाचित् ही कोई हिन्दू ऐसा हो जिसने हिन्दी-काव्य-कमल-दिवाकर महात्मा तुलसीदास जी का नाम न सुना हो अथवा जो उनकी अद्भुत रचना राम-चरित-मानस से परिचित न हो। उत्तर भारत मे राम-चरित-मानस का घर घर प्रचार है, और करोड़ों भारतवासी उसे धार्मिक ग्रन्थ मान कर उसकी पूजा और आदर करते हैं, कारण कि श्रीकृष्ण के समान ही मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र भी हिन्दुओं के उपास्य देव हैं।

जिस समय भारतवासी मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण से आत्मरक्षा करने मे समर्थ न हो सके और अनेक प्रयत्न करने पर भी भारत मे मुसलमानी राज्य की स्थापना न होने देने मे उन्हें सफलता न मिल सकी तो उनका हृदय अत्यन्त उत्साह-विहीन और नैराश्यपूर्ण हो गया। ईश्वर की सत्ता और शक्ति के सम्बन्ध में भी उनके विश्वास मे शिथिलता आने लगी और इस प्रकार हिन्दू समाज के धार्मिक और नैतिक विचारों में महान् परिवर्तन होने लगा। हिन्दू जनता की इस नैराश्यपूर्ण स्थिति को दूर करने के लिये कुछ महात्माओं ने देश में एक ऐसा व्यापक आन्दोलन खड़ा कर दिया जो इतिहासमें भक्तिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। भक्ति-मार्ग का आश्रय लेकर उन

महात्माओं ने तत्कालीन जन-समुदाय के विचारों में परिवर्तन कर उसके दु:खनिवारण और मनोरञ्जन के लिये एक अद्भुत साधन उपस्थित कर दिया। तत्कालीन साहित्य पर भी इस आन्दोलन का खूब प्रभाव पड़ा जिससे भक्ति सम्बन्धी अनेक काव्यग्रन्थों की रचना हुई। भक्ति-मार्ग के इसी प्रादुर्भाव के समय में गोस्वामी महात्मा तुलसीदास जी का भी आविर्भाव हुआ जिन्होंने भगवान् रामचन्द्र की भक्तिरूपी पवित्र भागीरथी का एक ऐसा स्रोत प्रवाहित किया जिसमें अवगाहन कर सहस्रों पतित-पावन हो चुके हैं; यहां तक बात प्रसिद्ध है कि 'नभ मे न तारे जेते तुलसी ने तारे हैं।'

खेद का विषय है कि गोस्वामी तुलसीदास जी के जन्मकाल और जन्मस्थान के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। इस समय तक उनके जो भी जीवन चरित्र उपलब्ध हुये हैं उनमें तिथियों और घटनाओं के सम्बन्ध में मतैक्य न होने के कारण कोई भी पूर्णरूप से प्रामाणिक नही माना जा सकता तथापि उनके आधार पर अनुसन्धान करके विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाला है उसके अनुसार इनका जन्म बांदा जिले के राजापुर नामक ग्राम में सम्वत् १५८९ में अनुमान किया जाता है। इनके पिता का नाम पं० आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था; यह सरयूपारीण ब्राह्मण थे। जन्म लेने के तीसरे ही दिन इनकी माता हुलसी परम पद को प्राप्त हो गयीं; परन्तु शरीर छोड़ने से पहिले वह बालक तुलसी को मुनियां नाम की अपनी एक दासी

की-रक्षा में छोड़ गईं। मुनियां उसे लेकर अपनी सुसराल चली गई और वहां बड़े स्नेह और यत्न से उसने उसका लालन-पालन किया। तुलसीदास जी जब पांच वर्ष के हुये तब मुनियां का भी देहान्त हो गया। पिता आत्माराम ने बालक की कुछ भी सुध न ली और इस प्रकार मातृ-पितृ-स्नेह से वञ्चित होकर तुलसीदास सर्वथा अनाथ हो गये। तुलसीदास ने अपनी इस अवस्था का अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ विनयपत्रिका मे इस प्रकार स्मरण किया है—
'जनक जननि तज्यो जनमि, करम बिनु विधिहू सृज्यो अब डेरे।"
परमार्थी गुरुजन अकारण ही सब पर दया किया करते हैं। अतः महात्मा बाबा नरसिंह-दास ने पञ्चवर्षीय बालक तुलसी को अपने संरक्षण में ले लिया और उसे शिक्षा देना प्रारम्भ कर दिया। उपनयन संस्कार तथा गुरुदीक्षा देने के पश्चात् घाघरा और गङ्गा के संगम पर आपने तुलसीदास को रामकथा सुनाई जिसका प्रमाण स्वयं तुलसीदासजी के ही शब्दों में इस प्रकार मिलता है—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सुसूकर खेत।" तत्पश्चात् महात्मा नरसिंहदास जी के साथ तुलसीदास जी काशी धाम पहुचे और वहां परम विद्वान् महात्मा शेष सनातनजी के शिष्य बनकर उन्होंने उन से वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, पुराण, काव्यकला और नीतिशास्त्र आदि विषयों का भली भाति अध्ययन किया। १५वर्ष की अवस्थामे यह पुनः अपनी जन्मभूमि राजापुर को लौट आये। पर अब वहां इन के कुटुम्बी-जनों में से कोई भी शेष नही रह गया था।

अत्यन्त हृष्टपुष्ट, शास्त्रविचक्षण और बुद्धिमान् तुलसीदास पर

मुग्ध होकर दीनबन्धु पाठक नामक एक ब्राह्मण ने अपनी सुपुत्री रत्नावली का विवाह इनके साथ कर दिया। न जाने कौन से जादू और कारीगरी से सृष्टिनियन्ता ने इस सृष्टि का निर्माण किया है जिससे ज्ञानी, ध्यानी और बुद्धिमान् भी उसकी भूल भुलैयों में पड़कर न केवल धर्मपथ को वरन् अपने को भी भूल जाते हैं। विवाह होने पर विद्वान् तुलसीदास भोग-विलास में रत हुए। यद्यपि वे जानते थे कि विषय-भोगों से विषय वासना की शान्ति नही होती। हवि के द्वारा बढ़ती हुई अग्नि के समान काम-वासना भी नित्य बढ़ती ही जाती है। फिर भी पत्नी-प्रेम में तुलसीदास इतने आसक्त हो गए थे कि एक बार जब उनकी स्त्री उनकी अनुपस्थिति में अपने पिता के घर चली गई तब पीछे से ये भी उससे मिलने के लिये श्वसुरालय पहुंचे। मार्ग में एक नदी पड़ती थी। रात्रि का समय था; जल का वेग भी बढ़ा हुआ था; परन्तु तुलसीदास ने इन सब कठिनाइयों की कुछ भी चिन्ता न कर जैसे तैसे नदी को पार किया। कहते हैं कि श्वसुरालय पहुंचने पर उनकी स्त्री ने उनके इस अनन्य प्रेम को देखकर उनसे कहा—"पतिदेव !

अस्थि-चर्म-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तिस आधी जौं राम मॅह, अवसि मिटति भवभीति॥"

बुद्धिमानों को संकेत ही पर्याप्त है। शास्त्र-निष्णात तुलसीदास ठोकर खाते ही संभल गये; उचित पथ पर आ गये और शरीर की इस क्षणभंगुरता का बोध होने पर उन्हें आत्मग्लानि तथा असह्य

वेदना का अनुभव होने लगा। बस यहीं से उनके जीवन का पट परिवर्तन हुआ। स्त्री में अनन्य प्रेम रखने वाले तुलसीदास अब मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र में अनन्य प्रीति रखने वाले गोस्वामी तुलसीदास हो गये। घर से चल दिये और प्रथम तो वे कुछ दिन अयोध्या में जाकर रहे, तत्पश्चात् जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारिका और बदरिकाश्रम आदि अनेक पवित्र स्थानों में भ्रमण करते हुए लगभग १६ वर्ष पर्यन्त देशाटन एवं तीर्थयात्रा करते करते मधुवन पहुँचे और वहां नित्य नियम से रामकथा सुनने लगे। सत्सङ्ग के बिना सच्चा ज्ञान उतना ही दुर्लभ है जितना बिना आधार के खड़ा होना। कहा जाता है कि इस सत्संग से तुलसीदास के ज्ञानचक्षु खुल गये और उन्होंने राम के अनन्य सेवक हनुमान् के दर्शन किए और उन्ही की कृपा से तुलसीदास जी को दशरथकुमार रामलक्ष्मण के भी दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

चित्रकूट में तुलसीदास साधु महात्माओं में बैठकर सत्संग में समय का सदुपयोग करते थे। उन्ही दिनों आपने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ विनयपत्रिका, गीतावली आदि लिखे। यहां से वे फिर काशी पहुँचे और वहां भगवान् शङ्कर के आदेश से आपने संवत् १६३१ वि० में रामनवमी के शुभ दिन से रामचरित मानस की रचना आरम्भ की। भारतवर्ष में सम्भवतः ऐसा कोई हिन्दू न होगा जिसने तुलसीदास जी के रामचरित मानस को पढ़ा या सुना न हो। उपक्रम और उपसंहार, भाव और विचार

आदि तो अद्वितीय हैं ही, परन्तु इसकी वर्णन शैली में भी कुछ ऐसा चमत्कार है कि बार बार पढ़ने पर भी इस से तृप्ति नही होती। सहस्रों स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध रामायण का नित्य नियम से पारायण करते हैं। संसार मे जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त प्राणिमात्र के कर्तव्यों का सुन्दर आदर्श और निदर्शन, उपदेश और मनोरञ्जन, सरल भाषा और गम्भीर विचारों का एकत्र समावेश—यह सब कवि-कुल-भूषण गोस्वामी तुलसीदासजी का ही कार्य था। साहित्य-क्षेत्र में उनकी इस दिव्य कृति ने उन्हें सदा के लिए अमर बना दिया है।

वेद, पुराण, शास्त्र, उपनिषद् आदि समस्त ग्रंथों का मथन कर गोस्वामी जी ने यह नवनीत निकाला है। महाकाव्य होने के अतिरिक्त इस आदर्श ग्रन्थ में धर्म, नीति, मंत्र तंत्र, साहित्य, रस, अलङ्कार, आदि का भी ऐसा अद्भुत कौशल दिखाया गया है जिससे उन के सर्वज्ञ होने में लेशमात्र भी सन्देह नही रह जाता। केवल इसी एक ग्रन्थ से उनका नाम अमर ही नहीं घर २ हिन्दू जनता के हृदयपटल पर अङ्कित है। रामायण के अतिरिक्त तुलसीदास जी ने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें विनय-पत्रिका, गीतावली, कवितावली, बरवै रामायण, वैराग्यसंदीपिनी और दोहावली अधिक प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार संसार को निर्मल भक्ति रस में संप्लावित कर के संवत् १६८० वि० में वे इस नश्वर शरीर का परित्याग कर अपने इष्टदेव से जा मिले। गोस्वामी जी की मृत्यु के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है।

संवत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ शरीर ॥

तुलसीदास जी वैष्णव धर्म के अनुयायी और स्वामी रामानन्द जी की शिष्य-परम्परा द्वारा प्रचारित रामभक्ति के उपासक थे। वे मर्यादावादी थे। इसी का परिणाम मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के प्रति उनकी अनन्य भक्ति है। हिन्दी साहित्य को ऐसे महाकवि का अभिमान है। यह बड़े गौरव का विषय है कि हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिये महाकवि तुलसीदास ने धर्म और साहित्य का एक अनूठा भाण्डार खोल दिया। नीचे उनकी कविता का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है।

विनय-पत्रिका

अस कछु समुझि परत रघुराया !
बिनु तव कृपा दयालु ! दासहित ! मोह न छूटै माया ॥१॥
वाक ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृहमध्य दीप की बातन्हि, तम निवृत्त नहिं होई ॥२॥
जैसे कोइ इक दीन दुखित अति असनहीन दुख पावै।
चित्र कलपतरु कामधेनु गृह लिखे न विपति नसावै ॥३॥
षट्‌रस बहु प्रकार भोजन कोउ, दिन अरु रैनि बखानै।
बिनु बोले सन्तोष-जनित सुख खाइ सोइ पै जानै ॥४॥
जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु विषय आस मन माहीं।
तुलसिदास तब लगि जगजोनि भ्रमत सपनेहुं सुख नाहीं ॥५॥

रामचरित मानस

(लक्ष्मण का निषादराज गुह को उपदेश)

चौ०—बोले लषण मधुर मृदु वानी।
ज्ञान विराग भक्ति रससानी॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता॥
योग वियोग भोग भलमन्दा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फन्दा॥
जन्म मरण जहँ लगि जग जालू।
सम्पति विपति कर्म अरु कालू॥
धरणि धाम धन पुर परिवारू।
स्वर्ग नरक जहं लगि व्यवहारू॥
देखिय सुनिय गुनिय मन मांही।
मायाकृत परमारथ नाही॥

दोहा—सपने होय भिखारि नृप, रङ्क नाकपति होय।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपञ्च जिय सोय॥

चौ०—अस बिचारि नहिं कीजिय रोषू।
काहुहिं वादि न देइय दोषू॥
मोह निशा सब सोवन हारा।
देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा॥
यहि जग यामिनि जागहिं योगी।
परमारथी प्रपञ्च वियोगी॥

जानिय तबहिं जीव जग जागा।
जब सब विषय विलास विरागा॥
होय विवेक मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरण अनुरागा॥
सखा परम परमारथ एहू।
मन क्रम वचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल विकार रहित गत-भेदा।
कहि नित नेति निरूपहि वेदा॥

दोहा—भक्त भूमि भूसुर सुरभि, सुरहित लागि कृपाल
करत चरित धरि मनुजतनु, सुनत मिटहिं जगजाल॥

❀ ❀ ❀

१०—महात्मा टाल्सटाय

रूस देश के सुविख्यात उपन्यासकार महात्मा टाल्सटाय की गणना विश्व की विशिष्ट विभूतियों में है। वे स्वतंत्रता देवी के सच्चे उपासक, महान् राजनीतिज्ञ, आदर्श समाजसंशोधक और प्रसिद्ध तत्ववेत्ता थे। अत्यन्त देशभक्त होने पर भी उनका प्रेम विश्वजनीन था। मनुष्यमात्र की उन्नति की ओर उनका ध्यान रहता था। वे बड़े ही धीरप्रकृति और दृढ़प्रतिज्ञ थे। कठिन से कठिन विपत्ति और बाधाओं के उपस्थित होने पर भी अपने सिद्धान्तों से कभी विचलित नहीं होते थे। ऐसे महापुरुष का जीवन नवयुवकों के लिये परम शिक्षाप्रद और अनुकरणीय है।

९ सितम्बर सन् १८२८ ई० को रूस की प्राचीन राजधानी मास्को से प्राय: ६० मील की दूरी पर यास्न्यापोलयाना नामक स्थान में एक बड़े धनी एवं प्रतिष्ठित परिवार में टाल्सटाय ने जन्म ग्रहण किया था। ये अपनी माता राजकुमारी मेरिया तथा पिता काउन्ट निकोलस की पञ्चम सन्तान थे। माता ने बड़ी योग्यता से इनका प्रारम्भिक निरीक्षण किया, परन्तु अपनी आयु के केवल ३ वर्ष पर्यन्त ही ये मातृप्रेम के अधिकारी रहे। तत्प-

श्चात् माता का इनसे सदा के लिये वियोग हुआ। इसके अनन्तर कुछ बड़े होने पर बालक टालसटाय का जीवन अपने पिता के साथ मृगया, यात्रा तथा अन्यान्य आमोद-प्रमोद में व्यतीत हुआ। परन्तु जब ये ६ वर्ष के थे तब इन्हें पितृसुख से भी वञ्चित होना पड़ा। पिता के स्वर्गारोहणानन्तर मातृ-पितृ-विहीन टाल्सटाय की रक्षा का भार इनकी चाची पर पड़ा। यह एक विलासिनी स्त्री थी और निरन्तर सांसारिक सुखोपभोग एवं विषय-वासनाओं में ही रत रहती थी। उसके घर प्रतिदिन भोज और खेल तमाशे हुआ करते थे और अनेक पुरुष नित्य आते तथा हासपरिहास मे समय बिताते थे। बाल्यावस्था मे टालसटाय भी इनमे सम्मिलित होते और सब कुछ देखते थे। अतः इन पर भी विलासिता का खूब प्रभाव पड़ा। ऊपर से देखने मे यद्यपि वे बड़े सीधे सादे प्रतीत होते थे पर वास्तव में बड़े चञ्चल थे। एकान्त में बैठकर किसी न किसी विषय पर विचार करना इनका सहज स्वभाव था। व्यायाम के भी यह बड़े प्रेमी थे। इसी से इनकी शारीरिक-सम्पत्ति तथा एकान्तमनन द्वारा मानसिक विज्ञान की भी समुचित वृद्धि हुई।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था में यह काजान विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। अध्ययन की ओर तो प्रारम्भ से ही इनकी रुचि न थी तथापि यहां इनका जीवन अत्यन्त सुखमय था, कारण कि विश्वविद्यालय में जाकर भी इन्होंने आमोद प्रमोद के उपाय सोचे और अनेक विद्यार्थियों को अपना साथी बना लिया।

स्वच्छन्दता, धनिकों से मैत्री और नृत्य-गान-समितियों का आनन्द आदि इनके लिये पर्याप्त सुख के साधन थे। परन्तु एकान्त विचार उनका यहां भी बराबर बना रहा। इन्हीं दिनों इनके हृदय में प्रेमपिपासा भी जागृत हो उठी। इस सम्बन्ध के विचार उन्होंने अपनी 'यूथ' नामक पुस्तक में प्रकट किये है। इस पुस्तक की शिक्षा का सार है 'यौवनकालीन मनश्चाञ्चल्य का निग्रह।' इन्हीं दिनों टाल्सटाय ने प्रेमपूर्ण उपन्यास साहित्य का भी यथेच्छ रसपान किया। शनैः २ इनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। अतुल पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी तो वे थे ही। सोचने लगे कि पढ़ना लिखना तो धनोपार्जन के लिये है और धन का कुछ अभाव नहीं, धन से ही प्रतिष्ठा होती है ; अतः चिन्ता काहे की। निदान कालेज छोड़ कर घरपर रहने लगे और जमींदारी की देख भाल करने लगे। पढ़ते समय इनके मन में नाना प्रकार के विचार उठा करते थे। कभी प्रख्यात नेता, कभी सन्त-महात्मा और कभी आदर्श प्रेमी बनने की सोचा करते। कालेज में क्रमशः अरबी, तुर्की, कानून, इतिहास व धर्म का अध्ययन प्रारम्भ किया पर धीरे २ सब छोड़ दिया। सन १८४३ से १८४७ तक ये कालेज में विद्यार्थी रहे, पर किसी विषयके प्रौढ़ पण्डित नहीं हुए। अपने पिता से इन्होंने ईसाईधर्म के कैथालिक सम्प्रदाय की भक्ति सीखी थी पर शनैः २ धर्म से भी इनका चित्त हट गया। धर्म मार्ग भी इन्हें प्रशस्त दिखाई न दिया। संगीत भी सीखा पर उससे भी इन्हें शान्ति न मिली। इन सब बातों से इनकी शिक्षा परिहासवत् थी।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था से, हो इन्हें दार्शनिक ग्रन्थों के मनन का अवसर मिला और उसी के प्रभाव से वे धर्म में श्रद्धालु वन गए थे। पर १६ वर्ष की वय से इन्होंने भगवत्प्रार्थना वन्द कर दी और फिर शनैः २ गिरिजागृहों में जाना और व्रत उपवास भी त्याग दिये। सन् १८४७ में अन्न की उपज अपर्याप्त थी। साहाय्यप्राप्ति के निमित्त चारों ओर से सम्राट् के समीप आवेदनपत्र आ रहे थे। इसी अवसर पर टाल्सटाय ने कालेज से आकर कृषक समाज की कुछ सेवा करने का विचार किया, परन्तु कृषकों को इस धनाढ्य युवक की सेवामें छल की गन्ध प्रतीत होती थी अतएव उन्होंने टाल्सटाय के श्रमसे कोई लाभ न उठाया। छः मास तक कृषक समाजके लिये निष्फल प्रयत्न करने पर इन्हें फिर पढ़ने की इच्छा हुई और सेण्टपीटर्स वर्ग के विद्यालय मे गए। परन्तु वहां भी शान्ति न मिलने के कारण शीघ्र ही वहां से निकल आए। जमींदार होने पर कभी २ कृषको की दीनावस्था देख इनका हृदय दयार्द्र हो उठता था परन्तु आमोदप्रमोद से इतना अवकाश ही कहां जो उस ओर विशेष ध्यान देते। कभी आखेट के लिये निकल जाते और कभी द्यूतक्रीड़ा में ही समय बिताते थे। नृत्य से भी इन्हें विशेष प्रेम था। इस प्रकार विलासी जीवन बिताने का परिणाम यह हुआ कि आय की अपेक्षा व्यय अधिक होने लगा और ऋण बढ़ता गया। निदान सन् १८५१ में घर से भाग खड़े हुए और काकेशस पर्वत पर अपने एक भाई के पास—जो कप्तान थे—चले गये। वहीं पर्वत की उपत्यका में एक कुटीर बनाकर

एकान्त व सरल जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया।

उन दिनों धनिकों के लिये सेना में सम्मिलित होना बड़े गौरव की बात समझी जाती थी। स्वयं इनके भी परिवार के कई पुरुष सेनाविभाग में सरकारी नौकरी करते थे और उनमें से अनेक विख्यात योद्धा भी थे; अतः कुटुम्बी जनों के विशेष आग्रह से ये भी सेना में भर्ती हो गए। इस समय इनकी अवस्था तेईस वर्ष की थी। क्रीमिया का महायुद्ध आरम्भ हो गया था। उसमें यह अपने देश की ओर से अवैतनिक स्वेच्छासैनिक होकर लड़ने गए और वहां युद्ध में नैपुण्य प्रदर्शित करने के कारण सैवेस्टोपोलके पर्वतीय गढ़की सेना के सेनापति हो गए। इसके अतिरिक्त काकेशिया, सिलिस्ट्रिया आदि स्थानों के और भी कई युद्धों में ये सम्मिलित हुए। युद्धों के भीषणदृश्य देखकर इनका चित्त उद्विग्न हो उठा। सेना में प्रवेश करने के अनन्तर इन्होंने अपने विचारों को भी लेख द्वारा प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया था। सैवेस्टोपोल में वहां की लड़ाई की कहानियां लिखी। इस पुस्तक के विलक्षण प्रभाव से प्रभावित होकर राजा की आज्ञा इन्हें युद्ध से मुक्त करके युद्ध का बृहत् वृत्तान्त लिखने की हुई। इन्होंने 'बचपन', 'ज़मीदार का सवेरा', 'लड़कपन और जवानी' नामक कई कहानियां व लेख लिखे। इन से इनकी ख्याति का विस्तार हुआ। धनाढ्य, कवि, पदाधिकारी, उपन्यासलेखक आदि सभी इनकी प्रशंसा करने लगे। इससे इन्हें भी बड़ा सुख हुआ। इसी बीच में यह रूस की राजधानी पेट्रोग्रेड

पहुँचे जहां इन का बड़ा सम्मान और स्वागत हुआ। वहां सब प्रकार के लोग इन के दर्शन करने आए। सर्वत्र इनकी चर्चा होने लगी। इस समय यह देश के एक प्रसिद्ध नेता माने जाने लगे।

यद्यपि टाल्सटाय धनिक थे तथापि आगे चलकर इन्हें धनिक समाज के असदाचार से विरक्ति होगई थी। फ्रांस देश के विख्यात लेखक और तत्त्ववेत्ता रूसो के ग्रन्थों केअध्ययन से इनके जीवन का आदर्श एकदम बदल गया। रूसोके ग्रन्थ विलक्षण हैं। वे स्वतन्त्रता और उन्नति के मूलमंत्रों से भरे हुए हैं। टाल्सटाय के जीवन और उन के लेखों पर भी रूसो के उपदेशों का बड़ा प्रभाव पड़ा। रूस में उन दिनों दासप्रथा प्रचलित थी। निर्धन किसानों और मज़दूरों से अवैतनिक काम लिया जाता था। भूमिपति उन के साथ बड़ा दुर्व्यवहार करते थे। टाल्सटाय को यह सब अच्छा नहीं लगा। उन्होंने अपनी प्रभावशालिनी लेखनी की गति को दासप्रथा के विरुद्ध परिवर्तित कर दिया और इसी विषय पर अनेक उपन्यास लिखे। स्वयं भी अपनी ज़मीदारी में कृषकों के साथ सुंदर व्यवहार किया और उनकी शिक्षा आदि के निमित्त पाठशालाएं खोलदी। उनका मत था कि प्रत्येक बालक को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। धनिकों को इस अनिवार्य शिक्षा-प्रचार मे सहयोग देना चाहिये। इस से देश की अज्ञता दूर होगी। परन्तु अपने मत के प्रचार मे वे अकेले ही थे। चारों ओर से उनका विरोध होना प्रारम्भ हुआ। अतः विवश होकर

उन्हें अपने खोले हुए स्कूल तो बन्द कर देने पड़े पर इससे उच्च श्रेणी के धनाढ्य पुरुषों की ओर से उन के चित्त में घृणा और उपेक्षा के भाव भर गए। उनकी शिक्षा और उपदेशों के प्रभाव से रूस में शनैः २ सरल जीवन की धारा प्रवाहित होने लगी। और श्रमजीवियों तथा कृषक जनों में स्वतन्त्रता के पोषक भावों का विस्तार हुआ। इन के ग्रंथों का बड़ा आदर हुआ। परन्तु इनके लिये राजा और धनिकों का इन्हें अप्रीतिभाजन बनना पड़ा जिस से इन्हें अनेक कष्ट भोगने पड़े, यहां तक कि इनके मित्रों को भी इनके कारण दण्ड दिया गया।

जर्मनी में उन दिनों बालकों को 'किण्डर गार्टन' शैली से शिक्षा दी जाती थी। टाल्सटाय ने भी राजाज्ञा प्राप्त कर उस शैली से शिक्षा देने के लिये अपने ग्राम में एक विद्यालय खोल दिया परन्तु टाल्सटाय के निरन्तर बढ़ते हुए साम्यवादी विचारोंसे आशङ्कित होकर राजकीय शिक्षाविभाग ने उसे बन्द करवा दिया।

सन् १८५१ और १८६१ के मध्य में टाल्सटाय ने जर्मन, इटली और फ्रांस आदि देशों की तीन बार यात्रा की परन्तु इसके अनन्तर वे रूस के बाहर कभी नहीं गए। सन् १८६० में इनके एक भाई का स्वर्गवास हो जाने से इन्हें बड़ा दुःख हुआ और तब से जीवन-मरण-सम्बन्धी दार्शनिक प्रश्नों पर ये निरन्तर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने लगे।

सन् १८६२ के सितम्बर मास की २३ तारीख़ को मास्को-निवासी अपने एक मित्र की सोफियानाम्नी पुत्री के साथ इन्होंने

विवाह किया। इससे इनका जीवन अधिक सुखमय होगया। यौवन के नूतन प्रेमघन से इनकी क्लेशदावाग्नि शान्त होगई। सन् १८६३ में इनकी प्रथम सन्तान हुई। तदनन्तर इनका पारिवारिक जीवन बड़े आनन्दसे व्यतीत हुआ। परन्तु सन् १८७३ में इन्हें अपने दो पुत्रों के वियोग से बड़ा सन्ताप हुआ।

श्रमजीवी, और धनिक-पीडित, निर्धन दीन कृषकोकी दयनीय दशा का अनुभव कर के इनका सरस और कोमल हृदय द्रवीभूत हो जाता था। उस समय इनके चित्तमे धार्मिक भाव का उज्ज्वल-रूप से प्रादुर्भाव होता था। दुःखित और पददलित लोगों के लिये सहानुभूति तथा जिनके कारण संसार में पीड़ा और अत्याचार फैलता है उनके प्रति अत्यन्त क्रोध और घृणा उत्पन्न होजाती थी। अतः वे निर्धनों की सहायता के लिये कटिबद्ध हो गए। वे और उनके कुटुम्बी दीनो को अपने हाथसे भोजन कराते और वस्त्र पहनाते थे। स्वयं भी वही भोजन करते जो निर्धनों को कराते और अपनी ओजस्विनी लेखनी के प्रभाव से उनके कष्ट निवारण का प्रयत्न करते थे। उनकी पुस्तकें प्रायः कहानियों के रूप में होती थीं। सन् १८६१ ई० में रूस में दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय इन्होंने कृषकसमुदाय और स्वदेश की अत्यन्त सेवा की। उस समय टाल्सटाय की दीनवत्सलता का जिन लोगों ने प्रत्यक्ष अनुभव किया था उनका लिखा हुआ वर्णन पढ़ने से उनकी महत्ता का अच्छा परिचय मिलता है। चारों ओर क्षुत्पिपासापीडित असंख्य स्त्री पुरुषों को देख कर इनके मन में

यह भाव उदय हुआ कि हमे यह अधिकार नहीं कि हम तो धनी हों और ऐसा सुन्दर भोजन करें व वस्त्र पहिने जो मनुष्यजीवन के निर्वाह के लिये अत्यावश्यक नहीं, और हमारे चारों ओर ऐसे लोग हों जिनको शरीररक्षा के निमित्त पर्याप्त अन्न वस्त्र भी न मिले। इसी विचार से उन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति सर्व साधारण को बांट देने का निश्चय किया। पर स्त्री और अन्य कुटुम्बी जनों के विरोध के कारण वे ऐसा न कर सके। सोफिया की इच्छा थी कि टाल्सटाय की रचनाओं के प्रकाशन से होने वाली आय उसके परिवार को मिले परन्तु टाल्सटाय की दृष्टि में धन का कुछ महत्व न था। अर्थपरायणता ने स्त्री के हृदय के प्रेम का स्थान ले लिया इसी कारण टाल्सटाय के अन्तिम दिवस कुछ अच्छे नहीं बीते।

गृहस्थ के कार्यभार और पुस्तकप्रणयन से श्रान्त होकर विश्राम लाभ के उद्देश्य से इन्होंने करालीक नामक ग्राम मोल लिया और वहां रहकर सरल जीवन बिताने लगे। यहां उन्होंने यूनानी साहित्य और प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार के ग्रन्थो का अध्ययन भी किया। कुछ कालोपरान्त उनके चित्तमें वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करनेकी इच्छा हुई परन्तु इसमें कुटुम्बी जनों का विरोध तथा अनुनय विनय से कठिनाई प्रतीत हुई। उन्होंने उस समय अपनी स्त्री के नाम एक पत्र लिखा था जिसमें एक वाक्य यह भी था- "मुख्य बात यह है कि प्राचीन आर्यों की नाईं जो साठ वर्ष की अवस्था के निकट जंगलमे चले जाते थे और सच्चे

धार्मिक पुरुषों के समान आमोदप्रमोद का परित्याग कर अपना अन्तिम समय ईश्वराराधना में विताते थे मेरी भी अपनी इस अस्सी वर्ष की अवस्थामें यह प्रबल इच्छा है कि मुझे एकान्तता और शान्ति प्राप्त हो तथा मेरे जीवन के कार्य और विश्वास में एकता-स्थापित हो।" कई वर्षों के कोलाहल के पश्चात् अन्त में उन्होंने घर छोड़ ही दिया और ८२ वर्ष की अवस्था में पीठ पर एक गठरी डाल कर वन की ओर चल पड़े। मार्ग में एक सराय मे रोगाक्रान्त होगए। समाचार पाते ही परिवार के लोग इन्हें देखने आये। उन्हें देखकर वे बोले—"संसार में अनेक दुःखी मनुष्य पड़े हैं उनके पास क्यों नहीं जाते और उनसे सहानुभूति क्यों नहीं प्रकट करते।" ये ही उनके अन्तिम वाक्य थे। २० दिसम्बर सन् १६१० को वे स्वर्ग सिधार गये।

टाल्सटाय ने अपने जीवन का एक बड़ा भाग स्वादत-मोदता मे व्यतीत किया। पहले आमोद प्रमोद ही इनका धर्म था। तदनन्तर मनुष्य जाति और समाज की सेवा ही इनका धर्म हुआ। ५० वर्ष की आयु से इनका जीवन ईश्वर सेवा में व्यतीत होने लगा। महात्मा बुद्ध के वैराग्यपूर्ण सदुपदेशों का इन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। ६० वर्ष की आयु मे इन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति सन्तति के निमित्त करदी और स्वयं परम शान्तिपूर्वक निवास करने लगे। इनका तत्कालीन जीवन भारतवर्षीय वान-प्रस्थ जीवन से केवल आंशिक समता रखता था। इनके जीवन-चरित्र से सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यों के सिद्धान्त इस समय

भी कार्य रूप में परिणत हो सकते हैं। टालसटाय को आर्य-सिद्धान्तों से प्रेम था। गीता और उपनिषदों का भी वे पाठ किया करते थे। आर्यग्रन्थों के पढ़ने का वे सब को उपदेश दिया करते थे। भारतवर्ष और उसके निवासियों के प्रति भी उनका बड़ा प्रेम था। ईसाई धर्म में उनका विश्वास नहीं था, इसी कारण सन् १६०१ ई० में ईसाई मत के एक सम्प्रदाय का विरोध करने पर उन्हें इस धर्म से बहिष्कृत कर दिया गया था। परन्तु ईसा को वे एक महापुरुष मानते थे। वे बड़े ही निर्भीक और अपने सिद्धान्तों पर अटल रहने वाले थे। स्वतंत्रता के प्रेमी तथा अपने देश को दासत्व से मुक्ति प्राप्त करा कर उसे उन्नत बनाने की इच्छा रखने वाले पुरुषों के लिये उनके जीवन को आदर्श मान कर तदनुकूल आचरण करने का प्रयत्न करना चाहिये।

❀ ❀ ❀

११—कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर

विश्व-विख्यात कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ टैगोर वर्तमान काल में संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उन्होंने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा और कवित्वशक्ति के द्वारा विश्व-प्रेम और जीवन के सत्य का जो आदर्श मनुष्य-समाज के समक्ष उपस्थित किया है उससे न केवल स्वयं वे ही यश और सम्मान के भागी हुए हैं अपितु उनका देश और जाति भी परम गौरवान्वित हुई है। यद्यपि कवीन्द्र रवीन्द्र अंग्रेज़ी और बंगला दोनों भाषाओं के ही सर्वोत्तम कवि माने जाते हैं तथापि बंगभाषा और उसके साहित्य के साथ इनके जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। रवीन्द्रनाथ से पूर्व यों तो बङ्किम-चन्द्र, मधुसूदनदत्त, हेमचन्द्र और शरच्चन्द्र आदि अनेक प्रसिद्ध विद्वानों के द्वारा वङ्ग-साहित्य की श्रीवृद्धि हो रही थी तथापि पाश्चात्य जगत् मे उसका विशेष प्रचार और प्रभाव नही हुआ था। रवि बाबू ने अपनी ओजस्विनी लेखनी द्वारा उसमें अधिक बल और सौन्दर्य का सञ्चार कर उसे प्रौढ़ावस्था प्राप्त कराई और विकास की चरम सीमा को पहुँचाया। तभी से पाश्चात्य विद्वानों का भी उसकी ओर विशेप आकर्षण और अनुराग बढ़ा। अतः

पाश्चात्य जगत् में बङ्ग-साहित्य की ओर रुचि-वृद्धि कराने का श्रेय कविवर रवीन्द्रनाथ को ही है। अंग्रेजी भाषा पर भी इन्होंने यथेष्ट आधिपत्य प्राप्त कर उसमें भी अपनी अपूर्व प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित किया। इन दोनों भाषाओं में अपने उदात्त विचारों, उच्च कल्पनाओं और विलक्षण भावुकता के द्वारा सूक्ष्म काव्यानुभूतियों की सृष्टि कर इन्होंने जिस उत्कृष्ट साहित्य की रचना की है काव्यमर्मज्ञों की दृष्टि मे उसकी जोड़ का संसार में और कोई नहीं है। यही कारण है कि रविबाबू आज काव्यजगत् मे सर्वोच्च पद पर आसीन हो सर्वत्र प्रशंसा के पात्र बने हुए हैं।

कविवर रवीन्द्रनाथ का जन्म ६ मई सन् १८६१ ई० को कलकत्ता में पिराली ब्राह्मणसमाज की अन्यतम शाखा ठाकुरवंशमें हुआ था। ठाकुरवंश का सम्बन्ध सस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'वेणीसंहार' के रचयिता भट्ट नारायण कवि से बतलाया जाता है जो किसी समय कान्यकुब्ज से बङ्गाल मे आकर बस गये थे। इसी वंश के पञ्चानन नामक एक पूर्वज हुगली-नदी-तटस्थ गोविन्दपुर ग्राम मे वास करते थे जहां लोग उन्हें ठाकुर कहा करते थे। तभी से इस वंश की भी ठाकुर उपाधि पड़ गई। कहते हैं कि पहिले किसी समय मे ठाकुरवंश की इतनी प्रतिष्ठा और आदर न था जैसा कि आजकल है। समाज में पतित समझे जाने के कारण अन्य ब्राह्मण वंशों के साथ इस वंश के लोगों का खानपान का सम्बन्ध भी न था; किन्तु आज इस वंश की बङ्गाल में विशेष ख्याति है। साहित्य, कला, सङ्गीत, आदि अनेक

विषयों में इस वंश के लोगो ने अत्यन्त उन्नति प्राप्त कर विशेष गौरव और ख्याति लाभ करली है। विद्या, बुद्धि और श्रीसम्पन्नता मे टैगोर परिवार चिरकाल से बहुत बढ़ाचढ़ा और प्रसिद्ध रहा है। लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनो की समानरूप से इस वंश पर कृपा-दृष्टि रही है। रवीन्द्र के पितामह श्री द्वारकानाथ टैगोर एक उच्च कोटि के विद्वान् और ऐश्वर्यशाली व्यक्ति थे, तथा इनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ भी बड़े पण्डित, परम धार्मिक और दानी महात्मा पुरुष थे। कष्ट और विपत्तियों को सहन कर दूसरों को सुखी बनाना महर्षि देवेन्द्र के जीवन का लक्ष्य था। सौभाग्य से कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी अपने पिता के इन सद्गुणों को पैतृक-सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त किया है।

रवीन्द्र अपने छः भाइयों मे से ये सबसे छोटे है। इनकी माता का नाम शारदादेवी था। बालक रवीन्द्र की शैशवावस्था में ही वे स्वर्ग सिधार गई अतः रविबाबू के लालन-पालन का समस्त भार उनके पिता पर ही आ पड़ा। वे अत्यन्त पर्यटन-प्रिय होने के कारण बहुधा बाहर ही रहा करते थे अत रवीन्द्रनाथ को विशेष कर नौकरों के ही शासन और सरक्षण मे अपने सुन्दर बाल्य-काल का अधिकाश व्यतीत करना पड़ा। उनकी रखवाली के लिये एक नौकर निरन्तर उनके साथ रहता था। पढ़ने के अतिरिक्त घर से बाहर जाने की उन्हें अनुमति न थी। नौकरों का इन पर ऐसा प्रभाव था कि ये उनकी किसी भी बात का कभी उल्लङ्घन नहीं करते थे। एक बार इनके एक नौकर ने इन्हें कमरे में बिठाकर इनके चारों ओर एक रेखा खींच दी और

कहा—'सावधान ! यदि इस रेखा के बाहर आये तो बहुत कष्ट भोगना पड़ेगा।' रवीन्द्र नौकर की इस बात पर विश्वास कर लगातार कई घण्टों तक वहीं बैठे रहे। प्रकृति निरीक्षण में इनकी विशेष रुचि थी, अतः कमरे में बैठे ही बैठे झरोखों में से बाहर की ओर प्रकृति के मनोमोहक नाना दृश्यों का अवलोकन कर ये अपने चित्त को प्रसन्न करते रहे। एक अत्यन्त प्रतिष्ठित और संपन्न घराने में उत्पन्न होकर भी रवीन्द्रनाथ को बाल्यावस्था में नितान्त साधारण जीवन व्यतीत करना पड़ा। उस समय ये मनोनुकूल सुन्दर भोजन और वस्त्र के भी सुख-भोग से वञ्चित रहे। शरदृऋतु में केवल दो साधारण कुर्तों से ही इन्हें सारा जाड़ा काटना पड़ता और जूतों के स्थान में केवल एक जोड़ा स्लीपरों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। किन्तु रवीन्द्र नाथ ने अपनी इस दयनीय परिस्थिति से भी कभी कष्ट का अनुभव नही किया अपितु बालसुलभ-क्रीड़ाओं और शैशवकाल की सुख-कल्पनाओं के भीतर एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हुए समय यापन किया।

सबसे प्रथम बालक रवीन्द्र अल्पावस्था में ही ओरियण्टल सेमीनरी में बच्चों की श्रेणी में भर्ती हुए। वहां अध्यापकों के कठोर शासन को देखकर ये बड़े दुःखी होते थे। साधारण से अपराध पर भी शिक्षक के क्रोध का ठिकाना नहीं रहता था। और वह बुरी तरह लड़के पर टूट पड़ता था। अत्यन्त लाड़ प्यार से पलने वाले सुकुमार और कोमल मति बालक रवीन्द्र को भला

ये सब दृश्य क्योंकर अच्छे लग सकते थे। इसी कारण पढ़ने की ओर से इन्हें कुछ अरुचि सी हो गई; तथापि वे भयवश नित्य नियम से स्कूल जाया करते थे। कुछ समय पश्चात् इनके पिता ने इन्हें नार्मल स्कूल में भर्ती करा दिया। इस समय भी इनकी आयु बहुत थोड़ी थी। इस स्कूल में अंग्रेज़ी गाना भी सिखलाया जाता था। रवीन्द्रनाथ की उसमे तनिक भी रुचि न थी और न अंग्रेज़ी की शिक्षा में ही इनका मन लगता था। जिस समय स्कूल में विद्यार्थी पाठ का अभ्यास किया करते थे तब इन के हृदय मे नाना प्रकार की विचार-तरंगें उठती रहती थीं। प्रकृति के अद्भुत दृश्यों और पदार्थों के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से ये भांति २ की कल्पनाएँ किया करते और उन्हीं में निमग्न रहते थे। अंग्रेज़ी के अध्ययन में इनकी अरुचि और उदासीनता देखकर इनके अध्यापक भी इन्हें बहुधा भर्त्सना करते और धिक्कारते रहते थे परन्तु रवीन्द्र पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ता था। विदेशी भाषा के निर्दय भार के नीचे वे अपने मन को एक क्षण के लिये भी दबाना अच्छा नही समझते थे। इस संबंध में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है "कि काली जिल्दवाली उस पुस्तक की भाषा क्लिष्ट और विषयों की विद्यार्थियों से तनिक भी सहानुभूति न थी। बच्चों पर उस समय माता सरस्वती की कुछ भी दया नहीं देख पड़ी। प्रत्येक पाठ्यविषय के प्रारम्भ में श्रुति खण्डों (Syllables) द्वारा पृथक् किये हुए उच्चारण और स्वराघात (accents) पर दृष्टि-पात कीजिये तो ऐसा

जान पड़ेगा कि प्राणापहरण के निमित्त बन्दूक पर संगीन चढ़ाई गई हो।" पढ़ने में इतनी उपेक्षा करते हुए भी वार्षिक परीक्षा मे रवीन्द्र अपनी कक्षा में प्रथम उत्तीर्ण होते थे। इसका कारण यह था कि यद्यपि स्कूल में वे पढ़ने में अधिक ध्यान नहीं देते थे तथापि घर पर सब कार्य नियमपूर्वक करते और अध्ययन में भी अधिक मनोयोग देते थे। प्रातः काल उठकर शौच स्नानादि नित्य कर्म से निवृत्त हो पहिले तो वे व्यायामशाला में कुश्ती लड़ा करते थे। तदनन्तर एक अध्यापक के द्वारा इतिहास, भूगोल, गणित और साहित्य आदि अनेक विषयों का अभ्यास किया करते थे। भोजनोपरान्त स्कूल जाते और वहा से लौटकर जमनास्टिक सीखते तथा ड्राइङ्ग खींचा करते थे। रविवार को गाना बजाना भी सिखलाया जाता था। इसके अतिरिक्त वे पदार्थविज्ञान और अस्थिविद्या की शिक्षा प्राप्त करते थे। घर पर नित्यप्रति आनेवाले अनेक विद्वानों और शिष्ट व्यक्तियों के संसर्ग तथा गोष्ठी से भी इन्हें अपनी योग्यता बढ़ाने में पर्याप्त सहायता मिलती थी। सत्सङ्ग द्वारा इन्हे प्रचुर ज्ञान सामग्री उपलब्ध होती रहती थी।

नार्मल स्कूल से निकल कर ये बंगाल एकेडेमी नामक स्कूल में प्रविष्ट हुए परन्तु अंग्रेजी की शिक्षा से इन्हें यहा भी विशेष अनुराग न था। कविता की ओर इनकी प्रवृत्ति बचपन से ही थी। कहते है कि सात वर्ष की अवस्था मे ही इन्होंने अपने भानजे ज्योति.स्वरूप की प्रेरणा और प्रोत्साहन से एक कविता लिखी

थी जिसे देखकर इन के बड़े भाई स्वर्गीय द्विजेन्द्रनाथ तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों को बडी प्रसन्नता हुई। कौमारावस्था मे रवि बाबू बड़े ही एकान्त प्रिय थे। वन, पर्वतों और नदियो के तट पर निर्भय होकर भ्रमण करने और प्राकृतिक सौन्दर्य का अवलोकन करने मे इन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता था। इनका हृदय भी बडा विशाल और भावुक था। कलकल निनाद करती हुई नदी की उत्तुङ्ग तरङ्ग, समतल भूमि पर दूर तक फैले हुए छाया युक्त सघन वृक्षों की हरियाली और वृक्षों पर स्थित पक्षियों का कलितकूजन आदि प्रकृति के नाना दृश्यों से उनका हृदय मुग्ध होजाता था। सन्ध्याकालीन अस्तोन्मुख भगवान् भुवनभास्कर की स्वर्णरञ्जित रश्मियों से समुद्भासित कनकवर्णाभ क्षितिज और उपवन के वृक्ष, लताओं तथा पुष्पों को देखकर उनका हृदय-सरसिज विकसित हो उठता था। प्रकृति की अनुपम छटा से उनके हृदय मे निर्मलता और सरसता का सञ्चार होता रहता था। इसी से उनको सहज कवित्व शक्ति का विकास हुआ और वे कवि जगत् मे विचरण करने लगे। कालेज और स्कूल की पढ़ाई को सदा के लिये नमस्कार कर वे घर पर रह कर ही अध्ययन करने लगे और काव्यग्रन्थों का अनुशीलन एवं रसास्वादन करनेमे अधिक दत्तचित्त होगये। कविता करने की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति, अध्ययन मे आसक्ति और अभिरुचि के कारण शनै. शनै इन्हें कविता मे अच्छा अभ्यास हो गया। ये जो कोई कविता लिखते उसे अपने मित्रों और सहपाठियों को अवश्य

सुनाया करते थे। कुछ काल के अनन्तर कविता में इनकी गति इतनी अच्छी होगई कि श्रोताओं को भी उसमें विशेष रुचि और आनन्द मिलने लगा। १५ वर्ष की अवस्था होने तक इन्होंने कई छोटी मोटी कविताएँ लिख डाली थी। उस समय की इनकी कविताओं का संग्रह 'वनफूल' के नाम से प्रसिद्ध है।

सन् १८७७ ई० में ये प्रथमवार यूरोप गए। यूरोप की इस यात्रा में संसार की अनेक सभ्य जातियों के आचार-विचार और शिक्षा-संस्कृति, भूतल के एक विशाल भाग का अवलोकन और नाना प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों की विचित्र सुन्दरता से इनकी कवित्व शक्ति का और भी अधिक विकास हुआ। विलायत से लौटने पर इन्होंने 'करुणा' नामक एक उपन्यास लिखा। रवीन्द्रनाथ जी की आयु का सोलह से तेईस वर्ष तक का समय बड़ा ही उच्छृङ्खल और भावुकता-पूर्ण रहा है। इस समय तक ये अपने जीवनका कोई विशेष उद्देश्य निश्चित नहीं कर पाये थे। बाईस वर्ष की अवस्था में इनका विवाह-संस्कार होगया। इसके अनन्तर इनकी मानसिक स्थिति में शनैः शनैः परिवर्तन होने लगा। यौवनोन्माद में मनुष्य स्वभावतः सांसारिकता की ओर आकृष्ट होता है। तरुणावस्था में रवीन्द्र की भी कुछ समय तक यही दशा रही, पर अब पहिले की अपेक्षा इनका जीवन अधिक संयमशील और हृदय दृढ़ हो गया। साहित्य को ही उन्होंने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया और उसके अध्ययन, मनन तथा लेखनी-सञ्चालन में ही सर्वथा निरत हो गये।

इनका यथार्थ साहित्यिक जीवन तो बीसवें वर्ष की अवस्था से ही प्रारम्भ होता है। सन् १८८१ से १८८७ तक का समय इनका वास्तविक साहित्यिक काल है। इस समय इनकी प्रतिभा पूर्ण रूप से विकसित हो गई थी और इसी समय इनकी 'संध्या-सङ्गीत' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित हुई थी जिस से बंगाल में सर्वत्र इनकी विशेष ख्याति हो गई।

'सन्ध्या सङ्गीत' के पश्चात् 'प्रभात सङ्गीत' का प्रकाशन हुआ। बङ्गला में अपने ढंग की यह पहिली पुस्तक थी और कविता की दृष्टि में बहुतों की सम्मति में इसके पद्य सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। तदनन्तर इन्होंने अनेक उत्कृष्ट और शिक्षाप्रद उपन्यास, नाटक और समालोचनात्मक निबन्ध भी लिखे। कवि-जगत् में इनकी कविताओ का विशेष आदर और प्रशंसा होने लगी। इन्होंने अनेक बार विदेश भ्रमण किया जिससे इनकी प्रतिभा और कवित्व शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता गया। विचारों में आध्यात्मिकता और दार्शनिकता की वृद्धि हुई और फिर तो इन्होंने 'गीताञ्जलि' नामक एक ऐसी अद्वितीय पुस्तक लिखी जिससे इन्हें ससार के सर्वश्रेष्ठ कवि होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सब से पूर्व यह पुस्तक बंगला में निकली थी, तदनन्तर श्रीयुत एण्ड्र्यूज महोदय की प्रेरणासे कवीन्द्रने अंग्रेजी मे इसका अनुवाद प्रकाशित कराया। अनुवाद का निकलना था कि अङ्गरेजी साहित्य में धूम मच गई। सभी ने मुक्तकण्ठ से इसकी कविताओं की सराहनाकी और विश्वसाहित्य का यह अनुपम एवं अमूल्य ग्रन्थ

स्वीकार किया गया। यूरोप की विज्ञान-कला-साहित्य परिषद् की ओर से सन् १९२४ ई० में रवीन्द्रनाथ जी को इसी पुस्तक पर संसार-विश्रुत सवा लक्ष रुपये का आदर्श (Noble) पुरस्कार प्रदान कर उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता का समुचित सम्मान किया गया। संसार मे सर्वत्र रवीन्द्र नाथ की ख्याति हो गई। अनेक राष्ट्रों ने उन्हें अपने यहां निमन्त्रित किया और रवीन्द्र ने वहां जाकर अपने अगाध पाण्डित्य तथा अनुपम वक्तृत्वशक्ति से लोगों को मन्त्रमुग्ध सा कर दिया। यही नहीं स्वयं भारत सरकार ने भी उन्हें 'सर' और 'नाइट' आदिकी उपाधियोंसे विभूषित कर यथेष्ट गौरव प्रदान किया।

रवीन्द्रनाथ जी की कवितायें बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी और चित्ताकर्षक होती हैं। उनमें संगीत और सौंदर्यका अपूर्व सम्मिश्रण तथा उच्च भावनाओं और कल्पनाओं का अद्भुत समावेश रहता है। वे एक उच्च कोटि के कलाकार हैं। वे कोरे साहित्यिक ही नहीं हैं अपितु एक अद्वितीय वक्ता और दार्शनिक भी हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। जिस ओर भी उन्होंने अपनी इस प्रतिभा का उपयोग किया उसी मे विलक्षण सफलता प्राप्त की।

तीस वर्ष की आयु मे पिता की आज्ञानुसार उन्होंने जमीन्दारी का कार्य संभाला और इस कार्य में भी अपनी अनुपम कर्तृत्वशक्ति तथा योग्यता का परिचय दिया। कृषि की उन्नति और दीन हीन निर्धन कृषकों की अवस्था सुधारने के निमित्त इन्होंने अनेक सुप्रयत्न किये और उनमे पर्याप्त सफलता

भी प्राप्त की । इस समय इन्हें प्राकृतिक सौन्दर्य निरीक्षण करने और उनके द्वारा आनन्द प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिला । एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने जाने मे उन्हें अनेक बार नौका द्वारा नदी पार करनी पड़ती थी । इसी से ये नदियों की मनोहारिता की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए । इनके जीवन का बहुत सा भाग नदियों के सुरम्य कूल और वक्षःस्थल पर ही व्यतीत हुआ है । यही कारण है कि महाकवि रवीन्द्र को सरित्सौन्दर्य अधिक प्रिय है । इनकी कविताओं में यत्र-तत्र नदियोंके प्रवाह और तरङ्गों की मनोमुग्धकारिता और सुन्दर छटा का वर्णन पाया जाता है । पाश्चात्य देशों में तो वे इसी कारण (River Poet) 'नदी का कवि' नाम से प्रसिद्ध हैं । हिमाच्छादित पार्वत्य प्रदेश और सस्य-श्यामला धरित्री की सुषमा भी इन्हें बहुत प्रिय है । प्रकृति के सौन्दर्य के अनन्य उपासक संस्कृत साहित्य के सुविख्यात कवि-कुल-कोकिल महाकवि कालिदास को रवीन्द्र अपना आदर्श मानते हैं । प्रकृति सौन्दर्य के अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण और अनुशीलन में भी कवीन्द्र रवीन्द्र ने बहुत ध्यान दिया । इसी से वे मानवजीवन के सुख दुःख और अन्य मानसिक भावों के सूक्ष्म विवेचन में इतने कुशल तथा सिद्धहस्त हैं ।

सन् १९०२ ई॰ में पत्नी का स्वर्गवास हो जाने से इन्हें मर्मान्तक वेदना हुई थी । अत. कुछ समय के लिये ये विरक्त से होकर एकान्तवास के लिये अलमोड़ा चले गये । पत्नी की स्मृति मे इन्होंने 'स्मरण' नामक ग्रन्थ की रचना की । इसके पद्य भी

बड़े ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी हैं। सन् १६०५ ई० में इनके कनिष्ठ पुत्र का भी देहान्त हो गया जिससे इन्हें और भी अधिक दुःख हुआ, परन्तु अपनी सहज, शान्त और गम्भीर प्रकृति के कारण इन्होंने जैसे तैसे धैर्य धारण किया।

रवीन्द्र केवल साहित्यिक ही नहीं अपितु उत्कृष्ट देशभक्त भी हैं। भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति में उनका अत्यधिक अनुराग है और वे उसके पूर्ण उपासक हैं। प्राचीन साहित्य से भी उन्हें विशेष प्रेम है। उनकी देशभक्ति और देश-प्रेम भी बहुत ऊँचे दर्जे का है। बङ्गभङ्ग के समय जो देशव्यापी आन्दोलन हुआ था उसमें इन्होंने भी पूरी तरह से सहयोग दिया था और अपनी युक्तियुक्त तथा ओजस्विनी वक्तृताओं द्वारा सर्वत्र धूम मचा दी थी। इसके अतिरिक्त देश की अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं में भी वे सदैव भाग लेते रहे है। सन् १६१८ में रौलेट एक्ट के विरुद्ध होनेवाले आन्दोलन के समय सरकार ने पञ्जाब में जो नृशंस और अमानुपिक अत्याचार किया था उससे इनके हृदय को बड़ा आघात पहुँचा था। उसीके फलस्वरूप इन्होंने सरकार द्वारा दी हुई 'सर' और 'नाइट' आदि उपाधियां वायसराय को लौटा कर देश-प्रेम-प्रदर्शन में अपूर्व स्वार्थत्याग और असीम निर्भीकता का परिचय दिया था।

दूरदर्शिता भी इन में कूट २ कर भरी है। जब ये तीस वर्ष के थे तभी से इस बात का अनुभव करने लगे थे कि देश की वर्तमान शिक्षा सर्वथा अनुपयुक्त और हानिकर है। इसमें किसी

न किसी प्रकार परिवर्तन करना चाहिये। मैकाले की शिक्षण-पद्धति के तो वे प्रारम्भ से ही कट्टर विरोधी रहे हैं। इसके द्वारा शिक्षित विद्यार्थियों का जीवन नितान्त निरुद्देश्य और देशभक्ति के भावों से सर्वथा रहित हो जाता है। अतः उन्होंने एक ऐसे विद्यालय की स्थापना करने का सङ्कल्प किया जिसके द्वारा युवकों के हृदय में जातीय और राष्ट्रीय भावों का उदय हो और शिक्षा के वास्तविक आदर्श की प्राप्ति हो। निदान कलकत्ते से कुछ दूर बोलपुर की पवित्र भूमि में उन्होंने 'शान्ति निकेतन' नामक आश्रम की स्थापना की। यह वह स्थान था जहां महर्षि देवेन्द्र नाथ साधना किया करते थे। यह आश्रम बस्ती से दूर एक ऊँची भूमिपर स्थित है और उसके चतुर्दिक् नदी, पर्वत, वृक्ष एवं ग्राम आदि मनोहर प्राकृतिक दृश्य हैं। यहां खुले मैदानों में वृक्षों के नीचे अध्ययन होता है। दूर२ के बड़े२ विद्वान् यहां अध्यापन कार्य करते हैं। विद्यार्थियों और अध्यापकों में परस्पर बड़ा प्रेम और सद्भावना का व्यवहार है। प्राच्य भारतीय शिक्षा-पद्धति के अनुसार यहां शिक्षा दी जाती है। इस विद्यालय को देख कर प्राचीन ऋषि मुनियों के आश्रमों का स्मरण हो आता है। देश विदेश के विद्वान् यहां दर्शनार्थ आते हैं। रवीन्द्र बाबू विश्व-प्रेमी हैं। समस्त संसार को एक प्रेम-सूत्र में आवद्ध करना और उच्च मानवता का पाठ पढ़ाना ही उन का एकमात्र लक्ष्य है। इसी से इस विद्यालय का नाम 'विश्वभारती' रक्खा गया है। ईश्वर उन्हें विशेष बल और दीर्घायु प्रदान करे जिस से उनको अपने इस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति में पूर्ण सफलता

प्राप्त हो। नीचे रवीन्द्रनाथ जी की देशप्रेम-संबंधिनी एक कविता का हिन्दी अनुवाद उद्धृत किया जाता है जिससे पाठकों का उनके देश प्रेम का कुछ आभास मिल सकेगा।

❀"ऐ मेरे स्वदेश! जो मनुष्य तुम्हें दूर रख कर नित्य हो तुम से घृणा किया करता है, हम सम्मान के लिये उसी के वेश में उसके पास चक्कर लगाया करते हैं। विदेशी तुम्हारी महत्ता को नहीं जानते इसी लिये उनमें तुम्हारे प्रति निरादर का भाव है और वे तुम्हारा अपमान किया करते हैं और हम तुम्हारी गोद के बच्चे उनके पीछे लगे हुए उन के इस कार्य की सहायता किया करते हैं। मां! तुम्हारी दीनता ही मेरे वस्त्र और आभूषण हैं। इस बात को मैं क्या भूलूँ-मां! दूसरे के धन के लिये अगर गर्व हो तो उस गर्व पर धिक्कार है। हाथ जोड़कर हम भीख की झोली भरते हैं। मां! अपने पवित्र हाथों से तुम जो रोटियां और साग थाली में रख देती हो, ईश्वर करे उसी भोजन में हमारी रुचि हो और अपने हाथों से तुम जो मोटे कपड़े बुन देती हो, उन्हीं से हमारी लज्जानिवृत्ति हो, हमारी देह ढक जाय। अपने स्नेह का दान करने के लिये यदि तुम अञ्चल बिछादो तो हमारे लिये वही सिंहासन है; मां! तुम्हें जो तुच्छ समझता है वह हमें कौनसा सम्मान दे देगा।"

❀ ❀ ❀

❀ 'रवीन्द्र कविता-कानन' से उद्धृत।

१२—टामस एलवा एडीसन ।

वर्तमान काल वैज्ञानिकयुग के नाम से प्रसिद्ध है। वैज्ञानिक आविष्कारों के चमत्कार से आज समस्त संसार आश्चर्य-महोदधि में निमग्न है। नित्य नूतन आविष्कारों के द्वारा मानव-ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि एवं नाना प्रकार के नवीन पदार्थों की उपलब्धि हो रही है। विज्ञान के द्वारा मानव समाज का जो महान् कल्याण व उपकार हुआ है उसका अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि विज्ञान आज हमारे जीवन-स्थिति की रक्षा के लिये एक आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य अङ्ग हो गया है। रेल, तार, टेलीफोन, मोटर आदि हमारे नित्य के व्यवहार की वस्तुएँ बन गई हैं। इनके बिना हमारा कार्य चल ही नहीं सकता। जिन प्रतिभाशाली महापुरुषों के विशाल मस्तिष्क का यह चमत्कार है वे वास्तव में बड़े भाग्यशाली हैं। उनके इन उपकारों के लिये मानवसमाज सदैव उनका ऋणी रहेगा।

यह तो निश्चित ही है कि सर्वप्रथम पाश्चात्य-जगत् में ही विज्ञान का आविर्भाव हुआ और वहीं से फिर संसार के अन्य

देशों में भी इसका प्रचार हुआ। अमेरिका, इंगलैंड, फ्रांस, इटली, जर्मनी और रूस आदि सभी देशों में अनेक प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों का जन्म हुआ और हो रहा है। इन सभी देशों के विद्वान् बड़ी २ प्रयोगशालाओं में अनुसन्धान कार्य में संलग्न रहते हैं और नित्य कोई न कोई नूतन आविष्कार कर संसार को चकित कर देते हैं। परन्तु अबतक जितने भी वैज्ञानिक हुए हैं उनमें अमेरिका निवासी विज्ञानाचार्य एडीसन का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ग्रामोफोन, विद्युत् द्वारा एञ्जिन का सञ्चालन, सिनेमा के फोटोयन्त्र आदि अनेक प्रसिद्ध आविष्कार इन्हीं के मस्तिष्क की उपज है। इसीसे संसार के वैज्ञानिकों में उनका इतना ऊँचा स्थान है।

एडीसन का पूरा नाम यद्यपि टामस एलवा एडीसन था तथापि वैज्ञानिक जगत् में वे केवल 'एडीसन' नाम से ही विख्यात हैं। बहुत समय की बात है कि इन के पूर्वज हालैण्ड देश से अमरीका जाकर बस गये थे। अतः वहीं मीलान नामक स्थान में एक अत्यन्त समृद्ध और प्रतिष्ठित परिवार में ११ फरवरी सन् १८४७ ई० को एडीसन ने भी जन्म धारण किया था। इन के पिता सेमुअल एडीसन बड़े ही वीर और साहसी पुरुष थे। युद्धसम्बन्धी बातों में उनकी बड़ी रुचि थी। यही कारण था कि कुछ काल तक वे एक सेना में भर्ती होकर नौकरी करते रहे। अपने अतुलित पराक्रम और शूरता के द्वारा वे शीघ्र ही सेना में कप्तान पद पर पहुँच गए थे। कुछ समय पश्चात् उन्हें व्यापार

करने की धुन सवार हुई, अतः नौकरी त्याग कर मीलान में ही उन्होंने एक दूकान करली और शनैः २ व्यापारविषयक बहुत सा ज्ञान प्राप्त कर वे एक कुशल व्यापारी बन गए। एडीसन की माता का नाम लैंसी इलियट था। यह एक बड़ी सुशीला और विदुषी महिला थी और साथ ही साध्वी एवं सद्गृहिणी भी थी। एक स्कूल मे यह अध्यापिका का कार्य करती थी परन्तु गार्हस्थ्य-कर्म मे भी बड़ी दक्ष थी और उसका सुचारु रूप से सञ्चालन करने में समुचित ध्यान देती थी। उनके तीन सन्तानें थी जिनके पालन-पोषण, चरित्र-संगठन और उत्तम शिक्षा देने में दोनों दम्पती निरन्तर यत्नशील रहते थे। परन्तु बालक एडीसन का बाल्यावस्था में स्वास्थ्य अच्छा न होने से उसकी प्रारम्भिक शिक्षा स्कूल में न होकर घर पर माता ही द्वारा हुई थी। एडीसन की बुद्धि बड़ी तीव्र और धारणाशक्ति बड़ी प्रबल थी। जो कुछ वे पढ़ते उसे तुरन्त अभ्यस्त कर लेते और फिर कभी विस्मरण न करते थे। नैपोलियन की भांति अन्य बालको के साथ आमोद प्रमोद मे इनका मन भी न लगता था। पढ़ने में इनका बड़ा अनुराग था, विशेषकर इतिहास, साहित्य और कलाकौशल-विषयक बातों का अनुशीलन और मनन करने में वे बहुत दत्तचित्त रहते थे। दश वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने रसायन-शास्त्र का भी थोड़ा सा अध्ययन कर लिया था और तभी से इस ओर उनकी विशेष रुचि भी हो गई थी।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' इस लोकोक्ति के

अनुसार विज्ञान और तत्सम्बन्धी खोजों की ओर एडीसन की प्रवृत्ति भी प्रारम्भ से ही पाई जाती थी। उनमें कार्य करने की क्षमता और दृढ़ता भी अनुपम थी। यही कारण था कि वे अपने अनुसन्धानों मे इतनी सफलता प्राप्त कर सके जिससे समस्त वैज्ञानिक जगत् के सिरमौर बन गए। दृढ़निश्चयी मनुष्य संसार में क्या नहीं कर सकता ? जीवन-पथ मे विघ्न बाधाएं तो आया ही करती हैं पर उन पर विजय प्राप्त कर आगे बढ़ते रहना ही तो महापुरुषों का लक्षण है। अस्तु, एडीसन को जेब खर्च के लिये माता पिता से जो पैसे मिलते थे उन्हें वे अधिकांश आधुनिक विद्यार्थियों की भांति खेल तमाशों अथवा व्यर्थ एवं अनावश्यक वस्तुओं के मोल लेने में अपव्यय नहीं कर देते थे, अपितु उन्होंने उन्हें इकट्ठा कर कुछ रासायनिक द्रव्य मोल लिये और उन के द्वारा घर पर एक छोटी सी रसायनशाला स्थापित की। इसमें वे एकान्त में बैठे २ उन पदार्थों द्वारा भांति २ के प्रयोग और परीक्षण किया करते थे। यद्यपि इन प्रयोगों से इन्हें कुछ विशेष लाभ तो नही हुआ तथापि कुछ रासायनिक द्रव्यों का साधारण ज्ञान अवश्य होगया। अपनी इस रसायनशाला को अधिक समुन्नत बनाने के लिये उन्होंने अपने माता पिता से अनुमति लेकर पहिले तो नगर में ही और फिर ट्रेनों पर भी समाचार-पत्र बेचना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार उपार्जित आय का उपयोग भी उसी में करने लगे। कुछ काल के अनन्तर समाचार पत्रों के साथ २ ट्रेन में उन्होंने शाक भाजी भी बेचना

आरम्भ कर दिया जिससे उनकी मासिक आय में पर्याप्त वृद्धि होगई। तदन्तर उन्होंने ट्रेन मे ही एक छोटा सा प्रेस भी खोल लिया और उसके द्वारा एक समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। उनका यह कार्य बड़ा ही अद्भुत और साहसपूर्ण था। ट्रेन के एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक पहुँचने के समय में ही चलती ट्रेन मे ट्रेन सम्बन्धी सभी प्रमुख घटनाओं और समाचारों का संग्रह और सम्पादन कर तुरन्त उन्हें छापकर पाठक यात्रियों के पास पहुंचा देना सचमुच बड़े आश्चर्य की बात थी। इस से एडीसन की बड़ी प्रशंसा होने लगी। जिस से उनका विशेष उत्साहवर्द्धन हुआ।

प्रेस और शाकभाजी की दुकान के साथ ही साथ कुछ समय के पश्चात् एडीसन ने ट्रेन में ही अपनी रसायनशाला भी स्थापित करली और उसमें पूर्व की भांति व्यवसाय के अतिरिक्त समय मे वे पुनः प्रयोग करने लगे। एक बार ट्रेन में अकस्मात् धक्का लगने से उनकी रसायनशाला के फासफोरस के एक टुकड़े से रेल की पटरी में आग लग गई। सूचना मिलने पर गार्ड ने तुरन्त गाड़ी रोक दी और उस स्थल पर पहुंच कर आग बुझवाई; पर एडीसन पर उसे बड़ा क्रोध आया और उसने उनके कान पर एक घूंसा मारकर अगले स्टेशनपर उन्हें गाड़ी से उतार दिया। घूंसे की चोट से उनकी श्रवणशक्ति कुछ कम होगई थी जिससे एडीसन को शेष जीवन के अन्त समय तक कष्ट सहन करना पड़ा। इस दुर्घटनाके पश्चात् अब उन्होंने पुनः घर पर रहकर ही अपना कार्य करने का

निश्चय किया। यहां इन्होंने वीकली हेरल्ड (Weekly Herald) नामक एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन और साथ ही एञ्जिन के यन्त्रों का भी ज्ञान प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया। एञ्जिन के यन्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने में उन्हें इस कला में दक्ष अपने अनेक मित्रों से बहुत कुछ सहायता मिली जिससे वे शीघ्र ही इसमें बड़े प्रवीण हो गये। शनैः २ विद्युत् सम्बन्धी अनेक बातों से भी उन्होंने अच्छा परिचय प्राप्त कर लिया। फिर तार का काम सीख कर उन्होंने रेल के तारघर में पुनः नौकरी करली और कई वर्षों तक इधर उधर काम करते रहे। तार के काम में उनकी गणना प्रथम श्रेणी में की जाती थी।

एडीसन की प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी। नौकरी करते समय भी उनका अनुसन्धान-विषयक परीक्षणकार्य बराबर चलता रहा। कहावत प्रसिद्ध है- 'रसरी आवत जात इत, सिलपर परत निसान।' अतः निरन्तर परिश्रम करते २ शनैः २ उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता भी मिलने लगी। तारघर में नौकरी करते समय उन्होंने रेल की सीटी से कई प्रकार की ध्वनियों का आविष्कार कर उनके संकेतों द्वारा परस्पर बातचीत करने का एक विचित्र ढंग निकाला था।

नित्य नई २ बातों की खोज करने के प्रयत्न में सतत निरत रहनेके कारण कभी २ उनके अधिकारिगण उनसे अप्रसन्न होजाते थे और इसी कारण अनेक बार एडीसन को बहुत सी अच्छी २ नौकरियों से त्यागपत्र देना पड़ा और आर्थिक कठिनाइयों का

सामना करना पड़ा। पर इतने पर भी उनके अनुसन्धान कार्य और प्रवृत्ति में किसी प्रकार की बाधा अथवा त्रुटि न आने पाई। वे निरन्तर अपने कार्य में संलग्न रहते थे और अपने अमूल्य समय का एक भाग भी व्यर्थ नष्ट नहीं होने देते थे। वैज्ञानिक आविष्कारों और अनुसन्धान-सम्बन्धी परीक्षणों के लिये उपयोगी यन्त्रों तथा अन्य साधनों को जुटाने के लिये वे अपनी आय का बहुत सा अंश व्यय कर देते थे। निरन्तर किसी न किसी परीक्षण में व्यस्त रहने के उनके विचित्र स्वभाव के कारण बहुधा अनेक व्यक्ति उनका उपहास भी किया करते थे। एक बार बोस्टन में वे नौकर होकर गए वहां उन्हें अयोग्य ठहराये जाने के विचार से तार का एक ऐसा कठिन काम सौंपा गया जिसे उस समय बहुत थोड़े व्यक्ति ही कर सकते थे। एडीसन ने बड़ी कुशलता-पूर्वक उसे सम्पादन कर दिया जिससे सभी देखने वालों को उनके इस बुद्धिवैभव पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके इस कार्य से लोगों की उनके प्रति विशेष श्रद्धा हो गई और वे उनका अधिक सम्मान करने लगे। बोस्टन में रहते हुए इन्होंने कई छोटे मोटे आविष्कार किये जिनमे से 'वोट रेकार्डर' और 'स्टाकटिकर' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

कुछ समय पश्चात् बोस्टन छोड़कर ये न्यूयार्क की 'गोल्ड इण्डिकेटर कम्पनी' में नौकर होकर चले गये। वहां कम्पनी की मशीनों के बिगड़े हुए कुछ यन्त्रों को सुधार कर इन्होंने कम्पनी के सञ्चालक को इतना प्रसन्न कर लिया कि उसने इन्हें ३०० डालर

मासिक वेतन पर अपने यहां सब कारीगरों का प्रधान बना कर नौकर रख लिया। यहां रहकर एडीसन को आर्थिक कठिनाइयों के दूर हो जाने से अनुसन्धान-कार्य करने में विशेष सहायता मिली अत: उन्होंने बहुत से आविष्कार किये। कम्पनी एडीसन की योग्यता और कार्यपटुता पर इतनी मुग्ध थी कि उसने वृद्धावस्था में इन्हें सुखी और निश्चिन्त जीवन बिताने के लिये ५० सहस्र डालर की एक विशेष धन-राशि पुरस्कार के रूप में समर्पित की। परन्तु अध्यवसायी मनुष्य अपने जीवन में निश्चेष्ट होकर कभी नहीं बैठा करते। उन्हें तो निरन्तर कार्य करने की ही लगन रहती है। निदान एडीसन को इतनी बड़ी सम्पत्ति का अधिकारी होने पर भी कुछ गर्व न हुआ और वे पहिले से भी अधिक उत्साह तथा तत्परता से अनुसन्धानकार्य में जुट गए। अपने इस कार्य में उन्हें इतनी सफलता प्राप्त हुई कि सर्वत्र उनकी ख्याति फैल गई और बड़े २ विज्ञानाचार्यों ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके आगे मस्तक झुकाया।

एडीसन के बड़े और छोटे सभी आविष्कारों की संख्या डेढ़ सहस्र के लगभग होगी। उन सबका उल्लेख करना हमारे लिये असम्भव होगा, अत नीचे उनके कुछ बहुत ही प्रसिद्ध आविष्कारों का वर्णन किया जाता है।

१—स्वयं तार लेखक—(Automatic telegraphic system) यद्यपि तार के सम्बन्ध में एडीसन ने कई महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये थे पर उनमें स्वयं-तार-लेखक यन्त्र का आविष्कार बड़ा

प्रसिद्ध है। इस यन्त्र की सहायता से एक मिनट में तारा द्वारा आप ही आप रोमन अक्षरों में ३००० शब्द लिखे जा सकते हैं। विलायत मे इस यन्त्र का प्रचार बहुलता से हुआ है।

२—विद्युत् प्रकाश और विद्युत्-यन्त्र—आज जिस विद्युत्-प्रकाश और विद्युत्-यन्त्रों की उपयोगिता के कारण समस्त संसार चमत्कृत हो रहा है यह एडीसन महोदय की ही उर्वरा मस्तिष्क-शक्ति का प्रभाव है। एडीसन के पूर्व यद्यपि विद्युत्प्रकाश की सम्भाव्यता मे लोगों को कुछ २ विश्वास हो चला था पर न तो उस समय उसका प्रचार ही हुआ था और न किसी को उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में ही कुछ ज्ञान था। जो बात तत्कालीन वैज्ञानिकों के ध्यान मे वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी न आई थी एडीसन ने उसे अपनी प्रतिभाशक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष कर दिखाया। तत्कालीन वैज्ञानिकों का विचार था कि विद्युत् का विभाजन करना सम्भव नहीं, परन्तु एडीसन ने बड़ी खोज के साथ यह सिद्धान्त स्थिर किया कि यदि विद्युत् की गति दो समानान्तर तारों मे विपरीत दशाओं में हो और लैम्प दोनों तारों मे पृथक् २ लटका दिये जायँ तो इससे विद्युत् का विभाजन भी हो जायेगा और उसकी शक्ति में भी किसी प्रकार की कमी न आने पाएगी। उन्होंने यत्नपूर्वक अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिये कई बार प्रयोग किये और अन्त में सफलता प्राप्त होने पर जब विद्वन्मण्डली के समक्ष उसका परीक्षण करके दिखा दिया तो सर्वत्र उनके मस्तिष्क की सराहना होने लगी। इसके अनन्तर तो विद्युत

के द्वारा वैज्ञानिक आविष्कारों मे अभूतपूर्व उन्नति हुई। एडीसन के पूर्व रेल का एञ्जिन वाष्पके द्वारा चलाया जाता था, परन्तु एडीसन ने उसे भी विद्युत् द्वारा सञ्चालित किया। भारतवर्ष के बम्बई, कलकत्ता में भी विद्युत् के द्वारा चलने वाली इस प्रकार की रेलों का प्रचार है।

३—टेलीफोन—इस यन्त्र के द्वारा मनुष्य पृथक् पृथक् स्थानों में रहते हुए भी परस्पर वार्तालाप कर सकते हैं। यद्यपि एडीसन के पूर्व मिस्टर बैल द्वारा इस यन्त्र का आविष्कार हो चुका था, परन्तु उससे इतना धीमा शब्द निकलता था कि सुनने वालों को उसे समझने में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती थी। एडीसन ने इस त्रुटि को दूर कर उसे अधिक उपयोगी बनाया जिससे पीछे उसके प्रचार में बहुत वृद्धि हो गई। इस यंत्र का अधिकार एडीसन ने एक लाख डालर में एक कम्पनी के हाथ बेच दिया था।

४—ध्वनिवर्द्धक-यंत्र (Micıophone) इस यंत्र के द्वारा ध्वनि बढ़ाई जा सकती है और शब्द भी ऊँचे स्वर से सुनाई देने लगता है। आजकल बड़ी २ सभाओं में जिन लाउड स्पीकरों का प्रयोग होता है उसमें यही यंत्र काम में लाया जाता है। एडीसन का यह आविष्कार बड़ा आश्चर्यजनक है।

५—सिनेमाफोटो यंत्र—चित्र-पट पर वर्तमान समय में जो चित्र प्रदर्शित किये जाते हैं उन्हें लेने के लिये ऐडीसन ने एक विचित्र ढंगके कैमरे का आविष्कार किया। इस यंत्र के द्वारा एक सेकण्ड में

५०, ६० चित्र एकसाथ लिये जा सकते हैं। आधुनिक चल-चित्र-पटों में इसी कैमरे का उपयोग किया जाता है। चित्र-पटों की उपयोगिता में कदाचित् ही किसी को सन्देह हो; अतः चित्र-पटों की उन्नति में एडीसन ने जो कार्य किया है उसके लिये समस्त ससार उनका सदैव कृतज्ञ रहेगा।

६—**फोनोग्राफ़**—फोनोग्राफ एडीसनका बड़ा ही अद्भुत और सर्वप्रसिद्ध आविष्कार है। तार का काम करते २ एक दिन उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि तार-यंत्र के समाचार बिना हाथ की सहायता के केवल बोलने के साथ २ स्वयं ही लिखे जाया करे। निदान अपने इस विचार को पूरा करने के लिये वे एक यंत्र की खोज में लग गए। चिकने कागज पर उन्होंने लोहे की एक कलम को घिसा और देखा कि उससे कुछ ध्वनि निकलती है। जब उन्होंने उसे कुछ ऊपर उठाया तो ध्वनि कुछ अधिक तीव्र हो गई। इसी प्रकार खोज करते २ फिर उन्होंने कागज़ पर थोड़े २ अन्तर पर कुछ चीज चिपटा कर उसे एक गोल चरखी पर चिपटा दिया और उस पर लोहे की कील फेरनी प्रारम्भ की। इस प्रकार उससे कुछ ऊंचे तथा धीमे शब्द निकलने लगे। तदनन्तर उन्होंने मनुष्य के शब्द को यन्त्र द्वारा सुरक्षित करने का विचार किया। कागज की जगह चरखी पर उन्होंने एक धातु का पत्तर लगा कर मनुष्य के मुख से उस पर शब्द निकल-वाये और सारलौह की कील से छोटे बड़े चिन्ह करते गये। उन चिन्हों पर दुबारा कील फेरने से मनुष्य के वे शब्द फिर निकलने

लगे। फिर क्या था, एडीसन को अपनी इस सफलता पर बड़ी प्रसन्नता हुई और खोज करते २ अन्त मे फोनोग्राफ यंत्र तथा पत्तर के रेकार्डों का निर्माण किया। सन् १८७७ ई० में जब उन्होंने संसार के सम्मुख अपना यह आविष्कार उपस्थित किया तब भूमण्डल में सर्वत्र उनकी विमल कीर्ति फैल गई। उस समय अमरीका के राष्ट्रपति ने भी एडीसन को मिलने के लिये आमंत्रित किया था, और उनके इस अद्भुत यंत्र को देखकर उनकी बड़ी प्रशंसा की थी।

इन आविष्कारों के अतिरिक्त एडीसन ने और भी अनेक आविष्कार कर संसार का महान् कल्याण साधन किया। वे बड़े ही कर्मठ, दृढ़ अध्यव्ययसायी और परिश्रमी थे। जिस काम में एक बार लग जाते उसे अधूरा कभी नही छोड़ते थे और उसे पूरा करने के लिये मार्ग में आने वाली किसी भी प्रकार की विघ्न बाधाओं से कभी विचलित नही होते थे। एक साधारण परिस्थिति में रहते हुए भी कोई व्यक्ति अपने दृढ़ निश्चय और अथक परिश्रम द्वारा किस प्रकार महान् से महान् कार्य सिद्ध करने में समर्थ हो सकता है यही उनके जीवन का मुख्य आदर्श है। सन् १९३१ ई० के अक्तूबर मास में इस महापुरुष ने गोलोक प्रस्थान किया।

❀ ❀ ❀

१२—श्रीयुत जगदीश चन्द्र वसु

निस्सन्देह आधुनिक विज्ञान का आविर्भाव और सर्वाधिक उन्नति पाश्चात्य देशों में ही हुई है परन्तु भारत ने भी अपनी इस दीन हीन अवस्था में कुछ ऐसे पुरुषरत्नों को जन्म दिया है जिन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभाशक्ति और अनुपम कार्यकलाप द्वारा मातृभूमि का मुख उज्ज्वल कर उसे गौरवान्वित कर दिया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वसु भारत के ऐसे ही नर-रत्नों में से एक हैं। जिस प्रकार कवीन्द्र रवीन्द्र साहित्योद्यान के सर्वोत्तम माली समझे जाते हैं उसी प्रकार वैज्ञानिक वाटिका को अधिक सुरभित और पल्लवित बनाने वालों में डाक्टर वसु का नाम भी चिरस्मरणीय रहेगा। अपने अद्वितीय एवं महत्वपूर्ण आविष्कारों के द्वारा डाक्टर वसु ने संसार के वैज्ञानिकों मे एक अत्युच्च स्थान प्राप्त कर अक्षय-कीर्ति लाभ किया है।

वसु महोदय सन् १८५८ ई० में ढाका प्रान्त के विक्रमपुर नामक ग्राम में एक कुलीन तथा प्रतिष्ठित वंश मे उत्पन्न हुये थे। बाल्यावस्था में माता पिता ने बड़े स्नेह और यत्न से उनका लालन-पालन किया। मुण्डनादि संस्कार होने के पश्चात् जब ये कुछ बड़े हुए तो ग्राम की एक पाठशाला में ही इन्हें पढ़ने के लिये

भर्ती करा दिया गया। इनके पिता श्री भगवान् चन्द्र वसु बड़े ही दूरदर्शी और विवेकी पुरुष थे। अपने होनहार पुत्र जगदीश की शिक्षा दीक्षाके सम्बन्ध में वे प्रारम्भ से ही बड़े सचेत रहे। वे भली प्रकार जानते थे कि बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर विशेष ध्यान न देने और तदनुकूल कार्य करने के लिये उन के मार्ग में निरर्थक बाधाएं उपस्थित कर देने से बालकों की मस्तिष्कशक्ति का विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसी कारण बालक वसु की मानसिक प्रवृत्ति का पूरा ध्यान रखते हुए उन्होंने उसकी प्रतिभा को प्राकृतिक रूप से विकसित होने के लिये पूरा अवसर दिया। वसु महोदय को वृक्ष, लता, नदी, वन और वनैले पशु आदि प्रकृति के नाना पदार्थों से बचपन से ही बड़ा प्रेम था। वे बहुधा कृषकों और मछुओं के बालकों के साथ खेला करते थे और उनसे अनेक प्रकार के भयङ्कर वनैले पशुओं तथा समुद्र और नदियों के अगाध जल मे रहने वाले जीवों के सम्बन्ध मे भांति भांति की कथाये सुना करते थे। इन कथाओं में उनकी बड़ी अभिरुचि थी और इसी कारण प्रकृति के इन पदार्थों से उन्हें विशेष अनुराग उत्पन्न हो गया था जिस से पीछे विज्ञान की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ी और अन्त में इसी को उन्होंने अपने जीवन का एक मात्र ध्येय बना लिया। वसु के पिता ने पुत्र की इस वैज्ञानिक प्रवृत्ति को लक्षित करके ही उसे किसी अंग्रेजी स्कूलमें भर्ती न कराकर देहाती स्कूल में प्रविष्ट कराया जिस से प्राकृतिक पदार्थों के निरीक्षण करने का उसे अच्छा अवसर मिले। इस बात का उल्लेख वसु-

महोदय ने स्वयं भी किया है—"मेरी शिक्षा के सम्बन्ध में पिता जी ने प्रारम्भ से ही अपने विचार स्थिर कर लिये थे। उन के अधीनस्थ अनेक व्यक्तियों ने अपने पुत्रों को इस अभिप्राय से कि बड़े होकर वे अधिक सभ्य और महान् पुरुष हों, अँग्रेज़ी स्कूलों में पढ़ने के लिये भेजा था; परन्तु मुझे एक ग्रामीण पाठशाला में भर्ती कराया गया जहां मै कृषीवलों और मछुओं के बालकों के साथ क्रीड़ा, विनोद और आमोद प्रमोद में समय बिताता था और उनके संसर्ग मे प्रकृति के नाना जीवा तथा पदार्थों का परिचय एवं ज्ञान प्राप्त करता था। इसी से मेरे हृदय मे प्रकृति के प्रति विशेष आकर्षण व अनुराग और वास्तविक मानवता का उद्बोधन हुआ।"

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के अनन्तर उन्हें अँग्रेज़ी स्कूल में भर्ती कराया गया और वहां से प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् उच्च शिक्षा प्राप्ति के निमित्त वे कलकत्ता के सेण्ट जेवियर कालेज में प्रविष्ट हुए। इनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी और अध्ययन की ओर विशेष अभिरुचि भी थी। कालेज में सदैव सर्वोत्तम विद्यार्थियों में उनकी गणना की जाती थी कारण कि ये जो कुछ पढ़ते थे उस पर पूर्ण रूप से मनन करतेऔर अच्छे प्रकार उसे हृदयङ्गम कर लेते थे। अपने अध्यापकों के साथ ये बड़ी ही शिष्टता, सभ्यता और सम्मान का व्यवहार करते थे, जिस से प्रसन्न होकर वे भी इनसे बड़ा स्नेह करते और इनकी प्रशंसा किया करते थे। आधुनिक विद्यार्थियों में शिष्टाचार

की बहुधा अत्यन्त न्यूनता पाई जाती है। इसी कारण बड़े होकर जब वे जीवन संग्राम में प्रवेश करते हैं तो उन्हें अनेक कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है और अनेक बार अपनी उद्देश्य-सिद्धि में भी वे सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। जगदीशचन्द्र वसु में यह बात न थी। शिष्टाचार के वे प्रारम्भ से ही बड़े पक्षपाती रहे हैं। अपने विद्यार्थी-जीवन में उन्होंने उसकी पूर्ण रूप से शिक्षा प्राप्त करली थी। अपने सहपाठियों के साथ भी इनका व्यवहार अत्यन्त स्नेह, मैत्री और सद्भावना से पूर्ण था। उच्चनीच, धनी निर्धन और इसी प्रकार के अन्य भेद भाव से इन्हें बड़ी घृणा थी। 'सबके साथ समान व्यवहार करना मनुष्य का धर्म है' इस तथ्य में इन्हें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास था।

कालेज से बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् इनकी अभिलाषा हुई कि विलायत जाकर सिविल सर्विस की परीक्षा उत्तीर्ण करें और शासन विभाग में किसी उच्च राजकीय पद पर प्रतिष्ठित हों। परन्तु इन के पिता श्री भगवान् चन्द्र वसु इन्हें शासन-कार्य के उपयुक्त नहीं समझते थे। इनकी मानसिक प्रवृत्ति को देखते हुए उनका अनुमान था कि यह विज्ञान-क्षेत्र में अधिक बुद्धिवैभव प्रदर्शित कर सकते हैं। अतः बार बार प्रार्थना करने पर भी उन्होंने जगदीशचन्द्र को आई० सी० एस० के निमित्त विलायत जाने की अनुमति प्रदान न की। अपनी इस अभिलाषा की पूर्ति होते न देखकर शनैः २ वसु महोदय ने भी उस ओर से अपनी प्रवृत्ति हटाली और फिर ये विज्ञान के

उच्च अध्ययन और अनुसन्धान-कार्य की ओर आकृष्ट हुए। वैज्ञानिक अध्ययन के लिये जब इन्होंने अपने पिता से विलायत जाने की अनुमति मांगी तो वे भी तुरन्त इनके इस विचार से सहमत होगए और उन्होंने सहर्ष इन्हें वहां जाने की आज्ञा देकर उसके लिये समुचित प्रबन्ध भी कर दिया। जगदीशचन्द्र की अपने पिता के प्रति कितनी श्रद्धा और आदर था और वे उन के कितने आज्ञाकारी थे, उपर्युक्त घटना से इस बात का अच्छा प्रमाण मिलता है।

कई वर्ष विलायतमें अध्ययन करने के पश्चात् इन्होंने बड़ी योग्यता के साथ वहा से बी० ए०, बी० एस० सी० की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् ये कलकत्ता लौट आये और वहां एक कालेज मे पदार्थ-विज्ञान के अध्यापक नियुक्त होगए। विलायत मे अध्ययन करने से इनकी बुद्धि का अत्यन्त विकास हुआ और वहां के विद्वानों की कर्मशीलता एवं तत्परता को देखकर इन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। स्वयं भी वे प्रारम्भ से ही बड़े परिश्रमी और अध्यवसायी रहे हैं; अतः अध्यापन-कार्य के साथ २ इन्होंने वैज्ञानिक अनुसन्धान की ओर भी विशेष ध्यान दिया और उसमें तन, मन, धन से आसक्त होगए। इन के कालेज मे उस समय कोई प्रयोगशाला न होने के कारण वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिये उपयुक्त साधनों के अभाव में पहिले पहल इन्हें बड़े कष्ट का अनुभव हुआ। अपने घर पर ही इन्होंने एक छोटी सी प्रयोग-शाला स्थापित करली थी जहां कालेज से अतिरिक्त समय

में ये कार्य करते थे। लगभग दश वर्ष के सतत उद्योग के अनन्तर कालेज में भी इन्होंने एक प्रयोग-शाला स्थापित कराने का प्रबन्ध कराया और फिर इन दोनों में ये निरन्तर कार्य करते रहे। अध्यापन और अनुसन्धान-कार्य के साथ २ इन्होंने समाचार-पत्रों में विज्ञान-सम्बन्धी पाण्डित्यपूर्ण लेख लिखकर अपने विचारों का प्रकाशन करना भी प्रारम्भ कर दिया जिससे लोगों को इनकी विद्वत्ता का आभास मिलने लगा और शनै. २ उनमें उनकी रुचि भी बढ़ने लगी।

वसु महोदय को अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति से बड़ा अनुराग है; यही कारण है कि उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य का भी पर्याप्त अनुशीलन किया है। और भारतीय दर्शन-शास्त्र के तत्वों की यथार्थता में उन्हें पूर्ण विश्वास है। प्राचीन आर्यों का सिद्धान्त था कि अन्य जीवधारियों की भांति उद्भिज्ज और वनस्पति पदार्थों में भी जीवात्मा है, अत. उनमें भी सांसारिक सुखदु:ख और शीतोष्णादि द्वन्द्वों के अनुभव करने की चैतन्य शक्ति वर्तमान है। हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थ मनुस्मृति के निम्न श्लोक में इस सिद्धान्त का स्पष्टतया उल्लेख किया गया है—

"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्त:संज्ञा भवन्त्येते सुखदु:खसमन्विताः॥"(१-४६)

अर्थात् वृक्ष, लतादि समस्त उद्भिज्ज और वनस्पति पदार्थों में अपने प्राचीन संस्कारों के कारण सत्वगुण की अपेक्षा तमोगुण का

बाहुल्य है इसी कारण उनकी चेतना-शक्ति अन्तर्मुखी है—बाह्य रूप से उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं होता—तथापि उन में भी अन्य चेतनायुक्त पदार्थों के सदृश ही सुखदुःख अनुभव करने की शक्ति विद्यमान है। जगदीशचन्द्र वसु ने वैज्ञानिक रीति से इस तथ्य की प्रामाणिकता सिद्ध करने का विचार स्थिर किया और अपनी समस्त मनोवृत्तियों को इधर उधर से खींच कर केवल इसी एक लक्ष्य पर केन्द्रीभूत कर दिया। इनका कथन है कि "दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक किसी भी सिद्धान्त की गवेषणा और मनन करने में चित्त की एकाग्रता समान रूप से अपेक्षित है। जिस का मन वशीभूत नही उसे किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करना आकाश-पुष्प के समान है। सर्वप्रथम मन मे ही किसी कार्य के करने की इच्छा उद्भूत होती है तत्पश्चात् उसे क्रिया रूप में परिणत करना होता है। अतः कार्य-सिद्धि के लिये मनमें शान्ति और स्थिरता का होना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। विज्ञान-क्षेत्र मे तो चित्तैकाग्रता की विशेष रूप से आवश्यकता है, कारण कि वैज्ञानिक जीवन बड़े कष्ट का है। वैज्ञानिक-अनुशीलन में संलग्न विद्यार्थी के सिर पर प्रतिक्षण मृत्युका ताण्डव होता रहता है। साधारण सी भूल करने पर भी उसे भीषण स्थिति का सामना करना पड़ता है।"

अस्तु, डा० वसु एकाग्रचित्त से अपने उद्दिष्ट ध्येय की प्राप्ति मे प्रवृत्त हुए और मार्ग मे अनेक विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने पर भी वे कभी उससे विचलित नहीं हुये। गवेषणा

करते २ कुछ समय के पश्चात् उन्होंने कुछ ऐसे यन्त्रों का आविष्कार किया जिनकी सहायता से पौधों में हृदय की स्पन्दन और रोधक गति का ज्ञान हो सकता है, और उनके आन्तरिक जीवन का वृत्तान्त भी जाना जा सकता है। उनके इस आविष्कार का समाचार पाते ही वैज्ञानिक जगत् में क्रान्ति उत्पन्न हो गई और सभी सुननेवालों को परमाश्चर्य हुआ। अपनी इस सफलता पर वसु महोदय को भी असीम प्रसन्नता हुई। तत्पश्चात् संसार के समक्ष अपने इस अद्भुत आविष्कार और अनुभव को रखने के लिये उन्होने भूमण्डल-भ्रमण करने का निश्चय किया। सबसे प्रथम आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हे अपने यहां व्याख्यान देने के लिये निमन्त्रित किया। बड़े २ प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ताओं को इनका व्याख्यान सुनने के लिये आमन्त्रित कर वहां एकत्रित किया गया था। जिस समय ये विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने के लिये पहुँचे, उस समय सभा-मण्डप दर्शकों और श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। वसु महोदय के भाषण देने के लिये खड़े होते ही चतुर्दिक् करतल-ध्वनि से भवन गुञ्जित हो उठा। डाक्टर वसु ने अपने आविष्कृत यन्त्र की सहायता से श्रोताओं को एक पौधे के द्वारा उसके आन्तरिक जीवन का वृत्तान्त प्रत्यक्ष कहलवा कर दिखा दिया और यह सिद्ध कर दिया कि वनस्पतियों में भी चेतना-शक्ति विद्यमान है। उनके इस अद्भुत प्रयोग को देखकर श्रोताओं को बड़ा आश्चर्य और प्रसन्नता हुई और वे वसु की बुद्धि की प्रशंसा करने

लगे। इसी एक व्याख्यान ने समस्त योरोप में वसु की ख्याति प्रसारित करदी और फिर तो अनेक स्थानोंसे भाषण देने के लिये उन्हें निमन्त्रण प्राप्त हुआ। ग्रेट ब्रिटेन की विश्व-विख्यात 'रायल इन्स्टीट्यूट' (Royal Institute) मे ही केवल वे तीन वार आमन्त्रित किये गए। इसके अतिरिक्त उन्होंने यूरोप के कई अन्य देशो और अमेरिका का भी भ्रमण कर अपने अद्भुत वैज्ञानिक प्रयोगो से असंख्य मनुष्यों को विस्मयविमुग्ध कर दिया।

वनस्पति-विज्ञान्-विषयक गवेषणाओ मे डाक्टर वसु का स्थान सर्वप्रथम है। अन्य चेतन प्राणियों के सदृश वृक्षों और पौधों मे भी शीतोष्ण तथा सुख-दुःख आदि द्वन्दों के अनुभव करने की शक्ति है और विषाक्त ओषधियों तथा विद्युत् आदि का प्रभाव उनपर भी पड़ता है; किसी पुष्प अथवा पत्ते को अग्नि मे डालने से पहले वह सिकुड़ने लगता है और तदनन्तर जलकर भस्म हो जाता है—सिकुड़ने का यह भाव ही उसकी मृत्यु का पूर्व चिन्ह है—इससे प्रतीत होता है कि उसे भी मृत्यु के समय कष्ट का अनुभव होता है; इसके अतिरिक्त समस्त संसार का निर्माण केवल एक ही तत्व से हुआ है, और उसी का विभिन्न परिस्थितियों में चेतन अथवा अचेतन नाम निर्धारित किया जाता है—इन सभी बातों को डाक्टर वसु ने पूर्णरूप से प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया है। अपने इस अद्भुत आविष्कार के द्वारा डाक्टर वसु ने जीवन-सम्बन्धी कुछ ऐसे गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है जो अब से पहले आधुनिक संसार के लिये नितान्त अपरिचित

थे। जिन यन्त्रों के द्वारा डाक्टर वसु ने यह आविष्कार किये हैं, हर्ष का विषय है, कि वे सब भी उन्होंने स्वयं ही निर्माण किये हैं। इनमें से कुछ यन्त्र ऐसे है जिनके द्वारा पौधों और वनस्पतियों के घटने बढ़ने तथा इसी प्रकार की अन्य अनेक आन्तरिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का पता चल जाता है। वसु महोदय का यह आविष्कार बड़ा ही महत्वपूर्ण है और इसीसे संसार में उन्होंने अक्षय कीर्ति प्राप्त की है।

वनस्पति-विज्ञान के अतिरिक्त डाक्टर वसु ने विज्ञान के अन्य क्षेत्रों मे भी अनुसन्धान कर पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। जगत् प्रसिद्ध 'बेतार के तार' का सर्वप्रथम आविष्कार करने का श्रेय भी इन्ही को प्राप्त है। इस अनुसन्धान-कार्य में संसार के तीन महान् विज्ञानवेत्ता एक ही समय मे पृथक्-पृथक् प्रवृत्त हुए थे, किन्तु डाक्टर वसु को उसमे सब से प्रथम सफलता प्राप्त हुई। इन्होंने पहले पहल कलकत्ते में इसका प्रयोग प्रदर्शित कर सभी दर्शकों को विस्मयान्वित कर दिया था।

विज्ञान-क्षेत्र में वसु महोदय ने अपनी गवेपणाओं द्वारा जो अभूतपूर्व वृद्धि की है उससे मुग्ध होकर यूरोप तथा अमेरिका की अनेक संस्थाओं ने इनका यथेष्ट सम्मान किया है। लन्दन विश्वविद्यालय ने बड़े गौरवके साथ इन्हें 'डाक्टर आफ साइंस' की उपाधि से विभूपित किया। भारत सरकार ने भी इन्हें 'सर', 'आई० सी० ई०' और 'सी० एस० आई०' की उपाधियां प्रदानकर इनका समुचित आदर किया है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रसिद्ध

वैज्ञानिकों तथा अन्य विद्वानों ने भी प्रशंसा कर इनकी मान-वृद्धि की है। रसायनशास्त्र के विख्यात विज्ञानवेत्ता श्रीयुत आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय ने इनके सम्बन्धमें एक बार कहा था कि 'डा० वसु केवल वैज्ञानिक सत्य के आविष्कारक ही नही अपितु नवयुग-प्रवर्तक हैं। वे एक महान् पुरुष और निःस्वार्थ विज्ञानवेत्ता हैं।'

डाक्टर वसु जितने ही उच्च कोटि के विद्वान् हैं उतना ही उनका जीवन भी सरल और पवित्र है। वे बड़े ही उदारहृदय एवं मिलनसार हैं। अभिमान तो उन्हें छू तक नहीं गया। उन के उच्च मानसिक विचारों और बाह्य आचरण व व्यवहार में अत्यन्त सामञ्जस्य है। वैज्ञानिक अनुसन्धान ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है; इस के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने को भी वे सर्वदा उद्यत रहते हैं। उन्होंने जितने भी आविष्कार किये है उनमे से कोई भी पेटेण्ट नहीं कराया। ऐसा करना वे अपने धर्म और पूर्वजों की नीति के प्रतिकूल समझते है। उनके इस महान् त्याग मे सर्व-साधारण के हित की भावना निहित है। उनकी उत्कट अभिलाषा है कि समस्त संसार उनके इन आविष्कारों से लाभ प्राप्त करे। देशभक्ति के भाव भी उनमें कूट २ कर भरे हैं। मातृभूमि के गौरव तथा सम्मान का उन्हे सदैव ध्यान रहता है। प्राचीन समय की भांति भारत फिर विद्या और ज्ञान का केन्द्र बन कर समस्त संसार का शिक्षक तथा पथप्रदर्शक बने—यह विचार सदैव उनके हृदय को आलोड़ित करता रहता है। देशभक्ति और देशप्रेम के इन्ही उच्च भावों से प्रेरित होकर

उन्होंने कलकत्ते में एक 'विज्ञान-मंदिर' की स्थापना की है। इसकी स्थापना के समय वसु महोदय ने यह भविष्य वाणी की थी कि "संसार का ज्ञान उस समय तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक कि भारतवर्ष की ओर से उसमें कुछ देन न होगी। इस 'विज्ञान-मन्दिर' में बड़ी स्फूर्ति के साथ सत्यका अनुशीलन किया जाएगा, और किसी भी सांसारिक प्रलोभन से वह अपने पवित्र ध्येय से विचलित न हो सकेगा। पाश्चात्यदेशों में धर्म और विज्ञान में जो महान् विरोध हो रहा है उसे दूर करने का यह यथाशक्ति प्रयत्न करेगा।' डा० वसु की यह अभिलाषा वास्तव में बड़ी उच्च और पवित्र है।

जिस उच्च आदर्श और पवित्र ध्येय की पूर्ति के लिये इस विज्ञान-मंदिर की स्थापना की गई है, ईश्वर शीघ्र ही उसमे उन्हें साफल्य प्रदान करे। आशा है, वैज्ञानिक अनुसन्धान के जिज्ञासुओं के लिये यह मन्दिर अवश्य पथ-प्रदर्शक होगा और अपने ज्ञानालोक से संसार को आलोकित कर एक बार पुनः संसार मे भारत की पूर्व प्रतिष्ठा और गौरव को स्थापित करेगा।

१४—श्री प्रफुल्लचन्द्रराय

संसार के वैज्ञानिकों में जो स्थान वनस्पति-विज्ञान-संबंधी आविष्कारों के लिये डा० जगदीशचन्द्रवसु का है वही स्थान-रसायनशास्त्र विषयक गवेषणाओं में बंगाल के सुप्रसिद्ध विज्ञान-वेत्ता श्रीयुत प्रफुल्लचन्द्रराय का है। रसायनशास्त्र संबंधी अपनी अनुपम और आश्चर्यकारी खोजों के लिये प्रफुल्लचन्द्रराय का भी आज संसार के वैज्ञानिकों में अत्युच्च स्थान है। वे न केवल अपनी वैज्ञानिक खोजों के लिये ही इतने प्रसिद्ध हैं अपितु अपनी उत्कट देशभक्ति, अद्भुत कार्यपटुता और सरल एवं पवित्र जीवन के लिये भी आदर्श महापुरुषों में परिगणित किये जाते हैं। उनका जीवनचरित्र महान् तथा अत्यन्त शिक्षाप्रद है।

आचार्य राय का जन्म बंगाल प्रान्त में २ अगस्त सन् १८६१ ई० को एक प्रसिद्ध धनी कायस्थ कुल में हुआ था। इनके पिता एक अत्यन्त शिक्षित और उदारहृदय व्यक्ति थे। अरबी, फारसी और संस्कृत के वे अच्छे ज्ञाता थे। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी का भी उन्होंने पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे सदैव प्रफुल्लचित्त रहते और संकीर्ण विचारों से दूर भागते थे। अपने परिवार के लोगों

को भी वे अपने विचारों के अनुकूल ही ढालने का यत्न करते थे। यही कारण है कि रायमहोदय पर भी पिता के चरित्र का अच्छा प्रभाव पड़ा जिससे वे आरम्भ से ही बड़े उदार और मिलनसार बन गए। डा० जगदीशचन्द्र वसु की भांति प्रफुल्लचन्द्र राय की प्रारम्भिक शिक्षा भी एक ग्रामीण पाठशाला में ही हुई थी। सन् १८७० ई० में जब राय महोदय की अवस्था केवल नौ वर्ष की थी इनका परिवार कलकत्ता चला गया। अतः, ये भी अब वहीं विद्याध्ययन करने लगे। यद्यपि राय का शरीर बड़ा हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ था किन्तु १८७४ ई० में इन्हें पेचिश की बीमारी के कारण अत्यन्त कष्ट भोगना पड़ा। कोई दो वर्ष तक ये इस रोग से पीड़ित रहे और इसी कारण इनका शरीर बड़ा कृश और दुर्बल हो गया था। लिखना पढ़ना भी सब छूट गया था। दो वर्ष पश्चात् स्वास्थ्य लाभ करने पर इन्होंने फिर मनोनिवेश पूर्वक पढ़ना आरम्भ कर दिया। इनकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर और प्रतिभाशक्ति बड़ी विलक्षण थी। अध्ययन में इनकी इतनी अभिरुचि थी कि रुग्णावस्था के दो वर्ष के समय में भी ये निरन्तर कुछ न कुछ अभ्यास करते ही रहे। उसी समय में इन्होंने अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया था और अल्पकाल में ही अंग्रेजी साहित्य की अनेक पुस्तकों का अध्ययन कर उसमें प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी। इसके अतिरिक्त बिना किसी शिक्षक के केवल पुस्तकों की सहायता से ही इन्होंने लैटिन और फ्रैञ्च भाषाएँ भी पढ़नी प्रारम्भ करदी थीं और

पीछे उनमें भी अच्छी योग्यता उपलब्ध करली। संस्कृत की ओर भी इनकी विशेष रुचि थी। अतः एक शिक्षक के द्वारा उसका भी इन्होंने अच्छा अभ्यास किया। इस प्रकार सन् १८८१ ई० में इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा बड़ी योग्यता से उत्तीर्ण की।

वैज्ञानिक आविष्कारों के अद्भुत चमत्कारों से आकृष्ट होकर इनका चित्त विज्ञान के अध्ययन की ओर भी प्रवृत्त हुआ। बी० ए० में पढ़ते हुए अपने अतिरिक्त समय में ये विज्ञान का भी अध्ययन करते और तत्सम्बन्धी व्याख्यान सुना करते थे। इसके अतिरिक्त उसी समय मे इन्होंने 'गिल्ड क्राइस्ट स्कालरशिप' के लिये भी प्रयत्न किया और प्रसन्नता की बात है कि इस पुरस्कार के सर्वप्रथम दो भारतीय विजेताओं मे से एक नाम इनका भी था। सन् १८८२ ई० में उच्च शिक्षा प्राप्ति के निमित्त आप विलायत गए और एडिनबरा युनीवर्सिटी मे प्रविष्ट होकर वहां इन्होंने रसायन-शास्त्र, पदार्थ विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान और पशु-शास्त्र आदि सभी वैज्ञानिक विषयों को मनन कर उनमें अच्छी योग्यता प्राप्त करली। इनकी तीव्र बुद्धि और अद्भुत मेधाशक्ति के कारण इनके रसायन-शास्त्र के अध्यापक श्री क्रम ब्राउन इनसे बड़े ही प्रसन्न रहते थे। उस समय के इनके सहपाठियों में ह्यूमार्क्स, एलेक्जेण्डर स्मिथ, और जेम्स वाकर आदि कई महानुभाव थे जिन्होंने पीछे से वैज्ञानिक जगत् में अत्यन्त ख्याति उपलब्ध की थी।

जिन दिनों आप एडिनबरा में पढ़ते थे उन्हीं दिनों 'विप्लव के पूर्व और पश्चात् भारत की अवस्था' विषय पर सर्वोत्तम लेख लिखने वाले को एक पुरस्कार देने की घोषणा की गई थी। राय महोदय का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ और इन्होंने कठोर परिश्रम करके इस विषय का अच्छा अध्ययन किया तथा बड़ी सुन्दरता और योग्यता से एक लेख लिखा जिसमें ब्रिटिश राज्य पर अनेक अभियोग लगाए थे। यद्यपि पुरस्कार प्राप्ति में आपको सफलता नहीं मिली तथापि इनके लेख की गणना अच्छे लेखों में की गई थी। उस लेख से आपकी अद्भुत लेखन-शक्ति और उत्कट राष्ट्रीय भावों का अच्छा परिचय मिलता है। एडिनबरा यूनीवर्सिटी में आपने बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से शिक्षा प्राप्त कर डाक्टर की उपाधि प्राप्त की और तदनन्तर वहीं के कालेज में सहाध्यापक के रूप में अध्यापन-कार्य करने लगे।

सन् १८८८ ई० में आप कलकत्ता लौट आये और वहां प्रेसीडेंसी कालेज मे विज्ञान-विभाग के जूनियर प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हो गये। कुछ वर्षों के अनन्तर प्रोफेसर पैडलर के चले जाने पर आप उनके स्थान पर सीनियर प्रोफेसर बना दिये गये। अध्यापनकार्य के साथ २ आप अनुसन्धानकार्यों में भी प्रवृत्त हुए और सबसे पूर्व बंगाल प्रान्त की मुख्य खाद्य वस्तुओं घी और तेल पर आपने परीक्षण प्रारम्भ किये। निरन्तर तीन वर्ष तक वे इसी कार्य में संलग्न रहे और इनके संबंध में कई महत्व-पूर्ण खोजें कीं। सन १८९२ ई० में प्रेसीडेंसी कालेज में आपने

एक प्रयोगशाला स्थापित की जो दो वर्ष पश्चात् ही अत्यन्त सफलतापूर्वक कार्य करने लगी। राय महोदय ने रसायन-विज्ञान में अनेक अनुसन्धान किये पर सन् १८९६ ई० में मरक्यूरस नाइट्राइट अर्थात् 'पारद-नत्रजन' नामी लवण के अविष्कार से आप की प्रसिद्धि बहुत बढ़ गई। यह पदार्थ बहुत ही स्थायी सिद्ध हुआ। इसके अनन्तर नत्रजन आपकी खोज के मुख्य पदार्थ बन गये। प्रयोग के अतिरिक्त श्री राय ने अध्ययन की ओर भी विशेष ध्यान दिया। रसायन-शास्त्र के इतिहास के सम्बन्ध में इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् थौमसन के पश्चात् और किसी लेखक ने अपनी लेखनी नही उठाई थी। राय महोदय ने अपने गम्भीर अध्ययन और अन्वेषण के परिणामस्वरूप भारतीय रसायन-शास्त्र के इतिहास के सम्बन्ध में एक गवेषणापूर्ण पुस्तक लिखी जिससे इनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। डरहम विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने प्रसन्न होकर इन्हें इस पुस्तक के लिखने के पुरस्कार के रूप में 'डाक्टर आफ साइंस' की उपाधि प्रदान कर इनका सम्मान किया। सन् १९१६ ई० में राय महोदय प्रेसिडेंसी कालेज छोड़-कर 'यूनीवर्सिटी कालेज आफ साइन्स' में सम्मिलित हो गये और यहा रहकर भी इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण आविष्कार किये। राय महोदय के संबंध में प्रसिद्ध अंग्रेज रसायन शास्त्रवेत्ता श्री एच० ई० आर्म स्ट्रोंग का कथन है कि "इतिहास के पृष्ठों में प्रफुल्लचन्द्रराय से अधिक सुन्दर जीवन और नहीं निकलेगा। उनके जीवन की कथा न केवल मनोहारिणी ही है अपितु उसमें

एक अनुपम मस्तिष्क, बलवान् चरित्र, अद्भुत कार्य-शक्ति तथा अनुभव के तारतम्य की विशेषता भी है।" अपने जीवन की इसी महत्ता के कारण वे आचार्य राय के नाम से विख्यात हैं।

अपनी वैज्ञानिक खोजों से सर्वसाधारण को लाभ पहुचाने के लिये भी इन्होंने अनेक योजनाएँ बनाईं जिनमें से सबसे प्रसिद्ध 'बंगाल कैमिकल फार्मेसी' नामक संस्था की स्थापना है। यह संस्था भारतवर्ष में विख्यात है और प्रत्येक प्रान्त व नगर के निवासी यहां निर्माण की हुई अनेक वस्तुओं का उपयोग करते हैं। इस संस्था के द्वारा यहां काम करनेवाले लगभग दो सहस्र व्यक्ति अपनी जीविका उपार्जन करते हैं। इस प्रकार देशी वस्तुओं के प्रचार और अपने देशवासियों को जीविका-साधन में सहायता देकर राय महोदय ने अपनी अनुपम देशभक्ति का परिचय दिया है।

राय महोदय ने विज्ञान के अतिरिक्त राजनीति और सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में भी पर्याप्त ख्याति उपलब्ध की है। सन् १९२१ में होने वाले शिक्षा-सम्बन्धी और राजनैतिक आन्दोलनों में कार्य करने वाले प्रमुख नेताओं में इनकी भी गणना थी। शिक्षासम्बन्धी आन्दोलनों का नेतृत्व तो एक प्रकार से पूर्णरूपेण आपने ही किया था। सर्वत्र भ्रमण कर इन्होंने अनेक व्याख्यान दिये और वर्तमान शिक्षाप्रणाली की त्रुटियों और दोषों की ओर जनसाधारण का ध्यान आकृष्ट कर उन्हें दूर करने का यत्न करने के लिये प्रेरणा की। भारतीय उद्योग और व्यवसाय की ओर भी

इन्होंने विशेष ध्यान दिया। अनेक बंगाली नवयुवकों की प्रवृत्ति को इस ओर प्रेरित कर इन्होंने उन्हें घातक एवं क्रान्तिकारी आन्दोलनों में भाग लेने से बचाया और इस से व्यवसाय में भी उन्नति हुई। बंगाल में जितने नवीन २ उद्योग व व्यवसाय स्थापित हुए उनमें से बहुत से श्रीराय के उत्साह और सहयोग के ही परिणाम हैं। भारतीय उद्योग-धन्धों और शिल्पकला को प्रोत्साहन देने के लिये आपने देश के विभिन्न प्रान्तों का भ्रमण भी किया और अनेक प्रदर्शिनियों का उद्घाटन कर स्वदेशी की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। इन प्रदर्शिनियों के उद्घाटन के समय इन के दिये हुए व्याख्यान बड़े ही मनोहर और शिक्षाप्रद हैं।

खद्दर के वैज्ञानिक उपयोग पर भी आपने पर्याप्त प्रकाश डाला और वैज्ञानिक होते हुए सब से प्रथम इन्होंने ही मिल के कपड़ों की अपेक्षा खद्दर में अधिक विश्वास प्रकट किया। खद्दर के सम्बन्ध मे आप के विचार बड़े महत्वपूर्ण और मननयोग्य है। इन्हीं की प्रेरणा और उत्साह से बंगाल निवासियों के मन मे खद्दर के प्रति प्रेम और रुचि उत्पन्न हुई। इन सब कार्यों के अतिरिक्त श्रीराय में सेवाभाव और परोपकार की भावना भी अत्यन्त उच्च कोटि की पाई जाती है। बंगाल के विभिन्न प्रान्तों मे प्रायः प्रतिवर्ष बाढ़ें आया करती है जिस से अपार जन-धन की हानि होती है और अनेक वार दुर्भिक्ष के द्वारा भी लोगो को पीड़ित होना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर राय महोदय ने बड़ी

परता और परिश्रम के साथ कार्य किया है।

इस समय रायमहोदय की आयु ७६ वर्ष की है अतः आपने कालेज के अध्यापनकार्य से अवकाश ग्रहण कर लिया है किन्तु कार्य करने की भावना और लगन अब तक उनमें विद्यमान है। कालेज-परित्याग के समय आपकी की हुई घोषणा से यह बात भली भांति स्पष्ट हो जाती है—"मैंने अध्यापनकार्य तथा विज्ञान से सम्पर्क तोड़ने का निश्चय कर लिया है। अब मैं कलकत्ता से बिदा होता हूं और अपना शेप जीवन ग्राम-सुधार का कार्य करने में व्यतीत करूंगा।" ग्राम–सुधार और ग्रामीण-व्यवसाय को उन्नत करने की ओर प्रारम्भ से ही इनका ध्यान रहा है किन्तु अब अपने जीवन के शेष भाग में इन्होंने इसी कार्य के करने का व्रत ले लिया है। वृद्धावस्था में भी उनमें निरन्तर कार्य करने की कितनी शक्ति और लगन है! आधुनिक भारतीय नवयुवकों को इस विषय में उन्हें आदर्श मान कर उन के जीवन से शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये।

आचार्य राय का वैयक्तिक जीवन बड़ा ही सरल और पवित्र रहा है। वे वास्तव में एक तपस्वी प्रतीत होते हैं। उनका पारिवारिक सम्बन्ध भी बड़ा ही सुखी और स्नेह से पूर्ण है। ईश्वर उन्हें दीर्घजीवी बनाए जिस से वे अपने ध्येय की पूर्ति में सफल हों।

॥ समाप्त ॥

शब्दार्थ

१—योगिराज श्रीकृष्ण

पृष्ठ १—

(१) प्रवृत्ति—कार्य करने के लिये मन का झुकाव या लगन। (२) पौरस्त्य—पूर्वदेश के। (३) पाश्चात्य—पश्चिम देश के। (४) अनुशीलन—खोज, मनन। (५) तत्वज्ञान—ईश्वर, जीव और सृष्टि के संबंध का ठीक २ ज्ञान, [ईश्वर क्या है, मैं कौन हूँ, संसार क्या है, मेरा अथवा ससार का ईश्वर से क्या संबंध है, संसार मे रहते हुए मेरा क्या कर्तव्य है—इत्यादि बातो का जानना]। (६) यंत्रणाओं—क्लेशों, दुःखो। (७) परित्राण—रक्षा, बचाव, छुटकारा। (८) परिणत—बदला हुआ। (९) वास्तविक ध्येय—सच्चा उद्देश्य। (१०) भ्रान्त धारणाये—भ्रमपूर्ण विचार, ग़लत-फहमिया। (११) आध्यात्मिक—आत्म-ज्ञान-सबंधी। (१२) व्यावहारिक—व्यवहारसबधी, सांसारिक। (१३) सामञ्जस्य—मेल। (१४)—अपेक्षित—वाञ्छित, चाहा हुआ। (१५) अभ्युदय—लौकिक उन्नति। (१६) निःश्रेयस—आत्मिक उन्नति, मोक्ष। (१७) अनुगमन—पीछे चलना।

पृष्ठ २—

(१८) ऐन्द्रिय—इन्द्रिय-संबधी। (१९) अवहेलना—उपेक्षा,

तिरस्कार। (२०) उच्छृङ्खलता—स्वेच्छाचारिता, मनमानी। (२१) कदाचार—बुरा आचरण। (२२) सर्वाङ्गपूर्ण—सब प्रकार से पूरा।

पृष्ठ ३—

(२३) निष्काम—कामना (किसी फल की इच्छा) से रहित। (२४) स्फूर्ति—उमङ्ग, फुर्ती। (२५) हृदयङ्गम—मन से स्वीकार करना। (२६) रहस्य—भीतरी ज्ञान। (२७) सम्यक्—अच्छी तरह। (२८) निरतिशय—अत्यन्त।

पृष्ठ ४—

(२९) ऐहिक—सांसारिक। (३०) पराकाष्ठा—अन्तिम सीमा। (३१) औद्धत्य—उद्दण्डता। (३२) सार्वभौम-सत्ता—चक्रवर्ती राज्य, ऐसी राज्यशक्ति जिसके अधीन बहुत से छोटे २ राज्य हो। (३३) अन्तःकलह—भीतरी या आपस की लड़ाई। (३४) समन्वय—मेल (३५) पार्थक्य-भाव—पृथक् २ होना।

पृष्ठ ५—

(३६) पतनोन्मुख—अधोगति या विनाश को प्राप्त होने वाली। (३७) रश्मि—किरण।

पृष्ठ ८—

(३८) दम्भ—अभिमान, झूठा आडम्बर या शान।

पृष्ठ ११—

(३९) एकतंत्रवादी—राजसत्ता को पूर्णरूप से एक ही व्यक्ति के अधीन रखने के पक्षपाती। (४०) दुष्कृतियों—बुराइयों। (४१) आततायियों—अत्याचारियो, [१–आग लगानेवाला, २–विष देनेवाला

३—मारने के लिये हाथ मे शस्त्र धारण करने वाला, ४—भूमि, धन या स्त्री का हरने वाला—ये आततायी कहलाते है।]

पृष्ठ १२—

(४२) अकर्मण्यता—काम न करने की इच्छा, निकम्मापन। (४३] क्षुब्ध—दुःखी, अशान्त।

२—महात्मा बुद्ध

पृष्ठ १५—

(१) आविर्भूत—प्रकट।

पृष्ठ १६—

(२) अराजकता—शासन का अभाव, राज्य-क्रान्ति। (३) संसर्ग—साथ। (४) विपथगामी—बुरे मार्ग मे जाने वाले। (५) अध्यात्मवाद—आत्म-ज्ञान, ब्रह्म का विचार। (६) कर्मकाण्ड—यज्ञादि धार्मिक कर्म। (७) करुणावरुणालय—दया के समुद्र। (८) निर्वाण काल—मृत्यु का समय।

पृष्ठ १७—

(९) पाणिग्रहण—विवाह। (१०) प्रसव काल—बच्चा उत्पन्न होने का समय।

पृष्ठ १८—

(११) मङ्गलवाद्यों—मङ्गल (आनन्द) के बाजे। (१२) मुखरित हो उठा—गूँज उठा। (१३) हर्षोल्लसित—हर्ष से भरा हुआ।

(१४) सद्योजात—तुरन्त उत्पन्न हुआ। (१५)—यथाकथञ्चित्—जैसेतैसे। (१६) प्रशस्त—श्रेष्ठ, अच्छा।

पृष्ठ १९—

(१७) राजोचित—राजा के योग्य। (१८) निखिल-विद्या-निष्णात—सब विद्याओ में पूर्ण कुशल। (१९) अध्यवसायी—दृढ निश्चयी। (२०) पर-दुःख-कातर-स्वभाव—दूसरे के दुःख से जिसका हृदय दुःखी होता हो।

पृष्ठ २०—

(२१) आराम—उपवन, बाग़। (२२) अवस्थान किया—रहे। (२३) राजप्रासाद—राजमहल।

पृष्ठ २१—

(२४) जराग्रस्त—बुढापे से घिरा हुआ। (२५) अभिभूत—आक्रान्त, तिरस्कृत।

पृष्ठ २२—

(२६) अकस्मात्—यकायक। (२७) असाध्य—जिसका निदान न हो सकता हो। (२८) जीर्ण-शीर्ण-काय—जिसका शरीर बुढापे के कारण बडा दुर्बल होगया हो। (२९) विवर्ण—जिसका रंग बिगड़ गया हो। (३०) रोगाक्रान्त—रोग से घिरा हुआ या पीडित।

पृष्ठ २३—

(३१) उद्‌बोधन—जगाना, सचेत करना। (३२) अग्निसात् करना—जला डालना। (३३) क्षणभंगुर—पल भर मे नाश हो जाने वाला। (३४) नश्वर—नाशवान्।

पृष्ठ २४—

(३५) अन्वेषण—खोज । (३६) काषायवस्त्रधारी—गेरुआ कपड़े पहने हुए।

पृष्ठ २५—

(३७) आह्लाद—प्रसन्नता। (३८) तिरोभूत—छिपा हुआ, लुप्त। (३९) विषादग्रस्त—शोकाकुल। (४०) प्रव्रज्या—सन्यास। (४१) विपन्नावस्था—दु:ख की दशा। (४२) प्रयास— उद्योग, परिश्रम।

पृष्ठ २६—

(४३) शाश्वत—सदा स्थायी रहने वाला।

पृष्ठ २७—

(४४) समाधि-निरत—समाधि में लगा हुआ; (समाधि-योग-साधन अर्थात् मन और इन्द्रियों को सब ओर से हटा कर ब्रह्म-ज्ञान में लगाना।) (४५) वाह्याडम्बर—बाहरी दिखावट, झूठी शान। (४६) नैतिकता—नीति व सदाचार से संबन्ध रखना।

(४७) मूलोच्छेद—जड़ से नाश।

पृष्ठ २८—

(४८) ऐहिक लीला संवरण की—स्वर्ग सिधार गए।

३—स्वामी शंकराचार्य।

पृष्ठ ३०—

(१) प्रतिगामिता—पीछे की ओर जाना। (२) उत्कर्ष—अधिकता, श्रेष्ठता। (३) ह्रास—अवनति। (४) वाममार्गियों—

तान्त्रिकों; [वाममार्ग—एक ऐसा सम्प्रदाय है जिसमें मद्य, मांस आदि का विधान है।]

पृष्ठ ३१—

(१) मतानुयायी—मत को मानने वाले। (२) उत्पीडित—दुःखी। (३) प्राणप्रतिष्ठा—जीवन-सञ्चार; जीवित करना। (४) पार्वत्य प्रदेश—पहाडी भूमि। (५) आसक्ति—चाह, लगन। (६) वेदाङ्ग—छः है, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष्। (७) मेधा—स्मरण शक्ति। [बुद्धि—समझने की शक्ति और प्रतिभा वह शक्ति जिससे मनुष्य शीघ्र ही किसी कार्य मे असाधारण योग्यता प्राप्त करता है।] (८) वितरण—देना। (९) यावज्जीवन—जन्मपर्यन्त।

पृष्ठ ३३—

(१०) दाम्पत्य—स्त्रीपुरुषसंबंधी। (११) यापन करना—बिताना।

पृष्ठ ३४—

(१२) आभा—कान्ति। (१३) नवनवोन्मेषशालिनी—जिसका सदा नया २ विकास होता रहे। (१४) दैवदुर्विपाक—दुर्भाग्य से। (१५)—गोलोक—स्वर्ग।

पृष्ठ ३५—

(१६) मर्मयुक्त—रहस्यमयी, भेदभरी।

पृष्ठ ३६—

(१७) उत्तरोत्तर—अधिकाधिक। (१८) देवादेश—ईश्वर की

आज्ञा। (१९) किंकर्तव्यविमूढ़--'क्या करना चाहिये' ऐसा समझने मे असमर्थ।

पृष्ठ ३७—

(२०) मर्मान्तक—मर्म स्थान को चोट पहुँचाने वाली; [मर्म—शरीर का ऐसा अङ्ग जहां साधारण सी चोट से भी मनुष्य की मृत्यु हो जाय।] (२१) आकण्ठ—गले तक।

पृष्ठ ३८—

(२२) वियोगातुर—विरह से व्याकुल। (२३) उद्भ्रान्त—भूलाहुआ, व्याकुल, पागल। (२४) विश्रुत—प्रसिद्ध। (२५) लालायित—इच्छुक। (२६) आपादमस्तक—सिर से पैर तक।

पृष्ठ ३९—

(२७) व्युत्पन्न—शास्त्र-कुशल। (२८) तर्कक्षमता—बहस करने की सामर्थ्य अथवा योग्यता। (२९) अप्रतिम—अनुपम, बेजोड। (३०) परायणता—लिप्तता, लगे रहना। (३१) गाम्भीर्य—गहराई।

पृष्ठ ४०—

(३२) समाधान करते हुए—मन के सन्देह को दूर करते हुए (३३) स्नातक--ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए जिसने अपना विद्यार्थी जीवन समाप्त किया हो। (३४) लुप्तप्राय—लगभग नष्ट हुआ सा।

पृष्ठ ४१—

(३५) नास्तिकता—ईश्वर मे विश्वास न करना। (३६)

अद्वैतवाद—वेदान्त, जिसके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी वस्तु की सत्ता यहां तक कि आत्मा और परमात्मा में भेद भी नहीं माना जाता। (३७) पापिष्ठ—पापपूर्ण। (३८) कृतकृत्य—सफल। (३९) परास्त करना—हराना।

पृष्ठ ४२—

(४०) तज्जनित—उससे उत्पन्न हुआ। (४१) किंवदन्तियां—लोकोक्तियाँ, अफ़वाहें। (४२) यशःसौरभ—कीर्ति की गन्ध।

४—भीष्म पितामह।

पृष्ठ ४४—

(१) पदार्पण—पैर रखना, प्रवेश करना। (२) उत्सर्ग—त्याग।

पृष्ठ ४५—

(३) कर्तव्य-निष्ठा—कार्य करने में मन को लगाये रखना। (४) देदीप्यमान— प्रकाशयुक्त, चमकता हुआ।

पृष्ठ ४६—

(५) पारदर्शिता—पूर्ण कुशलता। (६) अभिषिक्त—जिसका अभिषेक हुआ हो; राजपद के लिये निर्वाचित। (७) प्रचुर—अधिक।

पृष्ठ ४७—

(८) लावण्य—अत्यन्त सौन्दर्य; मोती की चमक में जैसी झिलमिलाहट होती है वैसी ही शरीर की कान्ति।

पृष्ठ ४८—

(९) प्रीतिभाजन—प्रेमपात्र। (१०) प्रस्तुत—तैयार।

पृष्ठ ४६—

(११) अभीष्ट—मन की इच्छा। (१२) तदनुकूल—उसी के अनुसार।

पृष्ठ ५०—

(१३) अक्षय्य—कभी नाश न होने वाला।

पृष्ठ ५२—

(१४) देहावसान—मृत्यु।

पृष्ठ ५४—

(१५) दमन—शान्त कर; दबा कर। (१६) पिण्डोदक क्रिया—वह कर्म जिसमे पितरो को पिण्ड और जल के द्वारा तृप्त किया जाता है।

५—महाराणा प्रताप।

पृष्ठ ५८—

(१) आधिपत्य—अधिकार। (२) हिन्दू-कुल-कमल-दिवाकर—हिन्दूकुलरूपी कमल के लिये सूर्य। (३) अस्त व्यस्त—छिन्न भिन्न; तितर बितर।

पृष्ठ ५६—

(४) साध्वी—पतिव्रता। (५) परिस्थितियां—अवस्थायें।

पृष्ठ ६०—

(६) निधन—अभाव; नाश।

पृष्ठ ६१—

(७) आदर्श-परिचायक—आदर्श को जतलाने वाला।

पृष्ठ ६३—

(८) चपला—बिजली। (९) रक्तरञ्जित—लोहू से सना हुआ।

पृष्ठ ६४—

(१०) रणाङ्गण—लड़ाई का मैदान।

पृष्ठ ६५—

(११) कन्दराओं—गुफाओ।

पृष्ठ ६६—

(१२) विदीर्ण—फटा हुआ। (१३) यथार्थता—सचाई। (१४) सुश्री—सुन्दर शोभा वाला। (१५) शुचिरुचि—पवित्र इच्छा वाला। (१६) सुकृती—अच्छे कर्म करने वाला। (१७) सद्धर्म-धाम—अच्छे धर्मकार्यों के स्थान। (१८) घोर-आश्चर्य-लीन—बड़े अचम्भे में भरा हुआ। (१९) संस्था-विहीन—मर्यादारहित। (२०) निपतित—गिरा हुआ।

पृष्ठ ६७—

(२१) विद्युद्वह्नि—बिजली की आग। (२२) वृष्टि-धारा-प्रणाली—वर्षा की लगातार झड़ी। (२३) अनिल—वायु। (२४) मानी—आत्माभिमान रखने वाले। (२५) लक्ष्यभ्रष्ट—उद्देश्य से गिरा हुआ।

पृष्ठ ६८—

(२६) ताप—दुःख, अग्नि। (२७) शोध—प्रतिकार, बदला। (२८) आकांक्षा—अभिलाषा।

पृष्ठ ६९—

(२९) सतत—सदा। (३०) प्राची—पूर्वदिशा। (३१) वसुन्धरा—पृथ्वी।

पृष्ठ ७०—

(३२) अव्यय—कभी नाश न होने वाला। (३३) आश्वासन—भरोसा।

६—नैपोलियन बोनापार्ट

पृष्ठ ७२

(१) अक्षुण्ण—अटूट। (२) आघातों—चोटों।

पृष्ठ ७३—

(३) संपन्न—धनी, रुपये पैसे वाले। (४) भव्य—सुन्दर। (५) उपत्यकाओं—पर्वतों के आसपास की भूमि। (६) भारवहन—बोझा उठाना। (७) उत्तरदायित्व—ज़िम्मेदारी।

पृष्ठ ७४—

(८) सन्तप्त—दुःखी। (९) चतुर्दिक्—चारों ओर। (१०) शैशव-काल—बचपन। (११) उग्र प्रकृति—प्रचण्ड स्वभाव, तेज़ मिजाज़। (१२) उल्लङ्घन—न मानना।

पृष्ठ ७५—

(१३) द्रवीभूत—पिघला हुआ। (१४) पर्याप्त—यथेष्ट, काफी।

(१५) विद्याव्यसनी—जो विद्या प्राप्त करने में आसक्त हो।

पृष्ठ ७६—

(१६) समराङ्गण—युद्धभूमि। (१७) निमग्न—डूबा हुआ।

पृष्ठ ७७—

(१८) पाण्डित्य—विद्वत्ता। (१९) रसास्वादन—रस का चखना, आनन्द लेना। (२०) सेतु—पुल।

पृष्ठ ७८—

(२१) मितव्ययिता—कम खर्च करने का भाव। (२२) आत्म-प्रतिष्ठा—आत्मसम्मान।

पृष्ठ ८९—

(२३) ईश्वराधन—ईश्वर की पूजा। (२४) ओजस्विनी—प्रभाव डालने वाली। (२५) बर्बरता—जङ्गलीपन। (२६) क्रूरता—निर्दयता। (२७) ताण्डव—एक प्रकार का नाच।

पृष्ठ ८०—

(२८) संकट—विपत्ति, दुविधा। (२९) विवेकहीन—नासमझ, मूर्ख।

पृष्ठ ८१—

(३०) अव्यवस्थित—अस्तव्यस्त। (३१) जीर्णोद्धार—पुरानी टूटी फूटी वस्तु का सुधार। (३२) अभियोग—मुकदमा।

पृष्ठ ८२—

(३३) आभ्यन्तरिक—भीतरी। (३४) भाग्यभास्कर—भाग्य रूपी सूर्य।

पृष्ठ ८३—

(३५) कृत्रिमता—बनावट। (३६) प्रजातन्त्र—शासनप्रणाली ऐसी राज्यव्यवस्था जो प्रजा के द्वारा निर्वाचित सदस्यों की सम्मति से चलाई जाय। (३७) चतुरंगिणी—चार प्रकार की, जिसमें,हाथी, घोड़े

रथ और पदाति सैनिक हों।

पृष्ठ ८४—

(३८) युगपत्—एकसाथ। (३९) नितान्त—बिल्कुल। (४०) एडमिरल—समुद्री सेना का सेनापति।

पृष्ठ ८५—

(४१) आतङ्क—भय। (४२) विशीर्ण—टूटी फूटी, बिखरी हुई। (४३) शासनश्रृङ्खला—राज्य की जञ्जीर। (४४) अध्यक्षसभा—फ्रांस की सन् १७९३ की प्रसिद्ध राज्यक्रान्ति के पश्चात् वहां जो प्रजातंत्र शासनप्रणाली स्थापित हुई उसमें व्यवस्था आदि के निर्माण के लिये दो सभायें बनाई गई थीं, (१) अध्यक्ष अथवा वृद्ध सभा—इसमें ढाई सौ सदस्य होते थे और किसी की अवस्था ४० वर्ष से कम नहीं होती थी। (२) पंचशती सभा—इसमें भिन्न २ प्रान्तोंके प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित कुल ५०० सदस्य होते थे। सदस्य की आयु ३० वर्ष होना अनिवार्य था।

पृष्ठ ८७—

(४५) अर्थलोलुप—धन के लोभी।

पृष्ठ ८८—

(४६) योजना—सोची हुई व्यवस्था।

पृष्ठ ८९—

(४७) रुग्णावस्था—रोग की दशा। (४८) जर्जरित—शिथिल।

७—महात्मा सुकरात।

पृष्ठ ६०—

(१) लोकापवाद—संसार में अपयश का फैलना। (२) भीषण—भयङ्कर। (३) यातनायें—कष्ट। (४) न्याय्य—न्याययुक्त। (५) सार्थकता—सफलता।

पृष्ठ ६१—

(६) कार्यपटुता—काम करने की चातुरी। (७) शिखर—चोटी।

पृष्ठ ६२—

(८) उपास्य—पूजा करने के योग्य। (९) मानव वृत्तिधारी—मनुष्यों की सी प्रकृति व आचार रखने वाले। (१०) निपट—बिल्कुल। (११) पुरातन—प्राचीन, पुराने। (१२) आवर्त—भंवर। (१३) पुष्कल—बहुत सा। (१४) दार्शनिक—दर्शनशास्त्र के जानने वाले।

पृष्ठ ६३—

(१५) क्षुत्पिपासा—भूखप्यास। (१६) आत्मश्लाघा—अपने मुँह से अपनी बडाई।

पृष्ठ ६४—

(१७) बोधगम्य—आसानी से समझ मे आनेवाली। (१८) अनायास—बिना परिश्रम के; सहज ही में।

पृष्ठ ६५—

(१९) आहत—घायल।

पृष्ठ ९७—

(२०) जीविकोपार्जन—रोज़ी पैदा करना। (२१) कर्कशा—झगड़ालू।

पृष्ठ ९८—

(२२) जिज्ञासु—जानने या सीखने की इच्छा करने वाला।

८—श्री गोपालकृष्ण गोखले।

पृष्ठ १००—

(१) विश्वजनीन—संसार का हित करने वाले। (२) निष्ठावान् ईश्वर और गुरुजनों में भक्ति व श्रद्धा रखने वाला।

पृष्ठ १०१—

(३) अभ्यस्त—याद किया हुआ। (४) भर्त्सना—फटकार। (५) अतथ्य—झूठी। (६) आग्रह—हठ।

पृष्ठ १०२—

(७) पर-सेवा-व्रत परायणता—दूसरों की सेवा में लगे रहना।

पृष्ठ १०३—

(८) प्रकाण्ड—बहुत बड़ा। प्रोत्साहन—बढ़ावा।

पृष्ठ १०४—

क्रियाशीलता—कार्य करते रहनेकी प्रवृत्ति। अक्षरश:—सब, बिलकुल। धारासभा—असेम्बली।

पृष्ठ १०५—

विवेचन—जांच, मीमांसा। निर्भीक—बिना डरके। निर्वाचित—चुने हुए। उपाधि—पद।

आकाञ्चत्कर—कुछ भी नहीं, बहुत थोडी। तरङ्गाकुल—लहरों से भरा हुआ। उदधि—समुद्र। सार्वजनिक—जनसाधारण से संबंध रखने वाली, पबलिक। पुरस्कार—आदर, उपहार। नीरस—फीके। प्रतिवाद—खण्डन, विरोध।

६—गोस्वामी तुलसीदास

पृष्ठ ११०—

(१) अभ्युत्थान—उन्नति। (२) प्रतिबिम्ब—छाया। (३) मूर्तरूप—साकार अवस्था। (४) नियत—रखे हुए। (५)वैयक्तिक—व्यक्तिगत। (६) सुलभ—सरलता से पाने योग्य।

पृष्ठ १११—

(७) अवतरित—उत्पन्न। (८) उपास्य—पूजनीय। (९) नैराश्य-पूर्ण—निराशा से भरा हुआ। (१०) शिथिलता—कमज़ोरी।

पृष्ठ ११२—

(११) स्रोत—धारा। (१२) प्रवाहित किया—बहाया। (१३) अवगाहन—स्नान। (१४) मतैक्य—एकमत। (१५) अनुसन्धान—खोज।

पृष्ठ ११३—

(१६) संरक्षण—रक्षा, देखरेख। (१७) दर्शन—छः हैं, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त)। (१८) पुराण—हिन्दुओं के १८ प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ—ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव, शैव, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, भविष्यत्, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग,

वाराह, स्कान्द, वामन, कौर्म, मात्स्य, गारुड, ब्राह्मायड। (१६) शास्त्र-विचक्षण—शास्त्रों में कुशल।

पृष्ठ ११४—

(२०) सृष्टिनियन्ता—संसार का बनाने वाला। (२१) हवि—हवन की वस्तु। (२२) भवभीति—संसार का भय। (२३) आत्म-ग्लानि—मानसिक वेदना। (२४) असह्य—जो सहा न जाय।

पृष्ठ ११५—

(२५) देशाटन—देश विदेशों में घूमना। (२६) उपक्रम—प्रारम्भ। (२७) उपसंहार—समाप्ति।

पृष्ठ ११६—

(२८) चमत्कार—अनूठापन, करामात। (२९) पारायण—समय बांधकर किसी ग्रन्थका आद्योपान्त पाठ करना। (३०) निदर्शन—उदाहरण, दिखलाने का कार्य। (३१) समावेश—एक जगह इकट्ठा करना। (३२) नवनीत—मक्खन। (३३) अङ्कित—लिखा हुआ। (३४) संसावित—डुबाया हुआ।

पृष्ठ ११७—

(३५) अनुयायी—पीछे चलने वाला। (३६) मर्यादावादी—सदाचार व धर्म की सीमा को मानकर नियमानुकूल आचरण करने के पक्षपाती। (३७) असनहीन—भोजन रहित। (३८) षट्रस—छः प्रकार का स्वाद—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त।

पृष्ठ ११८—

(३९) रङ्क—निर्धन। (४०) नाकपति—इन्द्र। (४१) प्रपञ्च—

दुनिया का झमेला। (४२) वादि—वृथा। (४३) यामिनि—रात्रि।

पृष्ठ ११६—

(४४) अविगत—जो जाना नहीं जा सकता। (४५) अलख—जो देखा न जा सके। (४६) भूसुर—ब्राह्मण। (४७) सुरभि—गाय

१० महात्मा टाल्सटाय

पृष्ठ १२०—

(१) समाजसंशोधक—समाज का सुधार करने वाले। (२) धीरप्रकृति—गम्भीर स्वभाव वाला।

पृष्ठ १२१—

(३) स्वर्गारोहणान्तर—मृत्यु के बाद (४) हासपरिहास—हँसी मज़ाक। (५) शारीरिक-सम्पत्ति—स्वास्थ्य। (६) एकान्तमनन—अकेले मे बैठकर विचार करना। (७) समुचित—पूरी तरह से।

पृष्ट १२२—

(८) स्वच्छन्दता—मनमानी, इच्छानुकूल आचरण करना। (९) प्रेम-पिपासा—प्रेम की प्यास। (१०) यौवनकालीन—युवावस्था में होने वाला। (११) मनश्चाञ्चल्य—मन की चञ्चलता। (१२) निग्रह—दमन, रोक।

पृष्ठ १२३—

(१३) अपर्याप्त—कम। (१४) साहाय्य प्राप्ति—सहायता पाना। (१५) द्युतक्रीड़ा—जुए का खेल।

पृष्ठ १२४—

(१६) अवैतनिक—बिना तनख्वाह का। (१७) उद्विग्न—घबराया

हुआ। (१८) वृहत्—बड़ा। (१६) धनाढ्य—धनवान्।

पृष्ठ १२५—

(२०) पोषक—बढ़ाने या सहायता करने वाले। (२१) साम्य-वादी—समाज में विषमता को दूर करके अधिक से अधिक बराबरी का भाव स्थापित करने का प्रयत्न करने वाले। (२२) आशङ्कित—भयभीत।

पृष्ठ १२७—

(२३) प्रेमघन—प्रेम रूपी बादल। (२४) क्लेशदावाग्नि—दुःख-रूपी वन की अग्नि। (२५) दीनवत्सलता—दीनों के प्रति प्रेम भाव।

पृष्ठ १२८—

(२६) अर्थपरायणता—धन का लोभ। (२७) पुस्तकप्रणयन—किताबें लिखना। (२८) श्रान्त—थका हुआ। (२६) शोपेनहार—जर्मन देश के एक प्रसिद्ध दार्शनिक का नाम। (३०) वानप्रस्थाश्रम—वह आश्रम जिसमें मनुष्य गृहस्थ त्याग कर स्त्रीसहित वन में जाकर तपस्या करने लगता है।

पृष्ठ १२६—

(३१) खादत मोदता—एक स्थान का नाम। (३२) आंशिक—थोड़ी सी।

११ कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर

पृष्ठ १३१—

(१) गौरवान्वित—बड़प्पन से युक्त। (२) प्रौढ़ावस्था—अच्छी बढ़ी हुई दशा। (३) चरम—अन्तिम।

(४) भावुकता—कोमल विचारो के द्वारा जल्दी प्रभावित हो जाने का स्वभाव। (५) काव्यानुभूतियों—काव्यसम्बन्धी अनुभव (ज्ञान)।

पृष्ठ १३३—

(६) श्री सम्पन्नता—धन दौलत। (७) पैतृक सम्पत्ति—बाप दादा का धन। पर्यटनप्रिय—घूमने के शौकीन।

पृष्ठ १३६—

(६) प्राणापहरण—जान लेना। (१०) गोष्ठी—बातचीत।

पृष्ठ १३७—

(११) झरने आदि के गिरने की ध्वनि—कोलाहल। (१२) निनाद—ध्वनि, शब्द। (१३) कलितकूजन—सुन्दर गूंजने का शब्द। (१४) सन्ध्याकालीन— सायंकाल के समय का (१५) अस्तोन्मुख—छिपने वाला। (१६) भुवनभास्कर—सूर्य। (१७) स्वर्णरंजित—सोनें के रङ्ग वाली। (१८) समुद्भासित—प्रकाशित, चमकाया हुआ। (१९ कनकवर्णाभ—सोने की रङ्ग की कान्ति वाला। (२१) सरसिज—कमल।

पृष्ठ १३८—

(२१) यौवनोन्माद—जवानी की मस्ती या पागलपन। (२२) संयमशील—नियम से बंधा हुआ। (२३) सांसारिकता—दुनियादारी।

पृष्ठ १३९—

(२४) समालोचनात्मक प्रबन्ध—ऐसे लेख जिनमें किसी लेख के गुण और दोषों का विवेचन किया जाय।

पृष्ठ १४०—

(२५) सर्वतोमुखी—सब ओर फैली हुई।

पृष्ठ १४१—

सुरम्य—सुन्दर। (२७) सरितुसौन्दर्य—नदी की मनोहरता। (२८) मनोमुग्धकारिता—मन को प्रसन्न करने वाली शोभा। (२६) हिमाच्छादित—बर्फ से ढका हुआ। सस्यश्यामला—नई घास व अनाज के हरे २ पौधों से श्यामवर्ण वाली। (३१) सुषमा—सुन्दरता।

पृष्ठ १४२—

(३२) समस्याओं—कठिन प्रश्नों। (३३) नृशंस—क्रूर, निर्दयी। (३४) अनुपयुक्त—निरर्थक।

१२—टामस एलवा एडीसन।

पृष्ठ १४५—

(१) महोदधि—समुद्र।

पृष्ट १४७—

(२) विरवान—पौधे।

पृष्ठ १४८—

(३) अपव्यय—फ़िजूलखर्ची। (४) रासायनिक—रसायनसंबंधी

पृष्ठ १४६—

(५) फासफोरस—ऐसा पदार्थ जिसमे रगड़ लगने से तुरन्त